श्रीधादर्श

२६

तीर्थंकर महावीर स्मृति केन्द्र समिति, उत्तर प्रदेश, लखनऊ

जुलाई १९९५

आ. श्री कैलाससागर सूरि ज्ञान मंदिर
श्री महावीर जैन आराधना केन्द्र, कोबा

शोधादर्श

२६

प्रकाशक :

तीर्थंकर महावीर स्मृति केन्द्र समिति, उत्तर प्रदेश, लखनऊ

जुलाई १९९५

संस्थापक एवं आद्य सम्पादक : (स्व.) डा० ज्योति प्रसाद जैन
प्रबन्ध सम्पादक एवं प्रकाशक : श्री अजित प्रसाद जैन,
मन्त्री, तीर्थंकर महावीर स्मृति केन्द्र समिति, उ० प्र०,
पारस सदन, आर्यनगर, लखनऊ–२२६ ००४
सम्पादक मंडल : डा० शशि कान्त, श्री रमा कान्त जैन

★ विषय-क्रम ★

१. गुरुगुण-कीर्तन : देवनन्दि पूज्यपाद — श्री रमा कान्त जैन १३३
२. समाज के सामने चुनौती — डॉ. ज्योति प्रसाद जैन १३५
३. सम्पादकीय–वाग्देवी के अवतरण का पर्व — श्री अजित प्रसाद जैन १३६
४. रिपोर्ट–श्रुतपंचमी पर्व पर संगोष्ठी — डॉ. शशि कान्त १४३
५. सिख धर्म और गुरू ग्रन्थ साहब — डॉ. अवतार सिंह १४६
६. The Bible, Sacred Scripture of the Christians — श्री ई. आई. एल. जैक्सन १४६
७. Zoroastrianism and the Zend-Avesta — कु. ज़रीन विक्काजी १५२
८. बौद्ध धर्म–त्रिपिटक का विकास एवं लिपिकरण — श्री लक्ष्मी नारायण कुरील १५४
९. हिन्दू धर्म ग्रन्थ—वाचिक परम्परा और पुस्तक-लेखन — डॉ. शैल नाथ चतुर्वेदी १५६
१०. जैन आगम ग्रन्थों का लिपिकरण — डॉ. सुदर्शन लाल जैन १६२
११. पुरातत्त्व में पुस्तक-धारिणी सरस्वती—डॉ. शैलेन्द्र कुमार रस्तोगी १६७
१२. विचार बिन्दु–भगवान महावीर की प्राकृत — डॉ. शशि कान्त १७०
१३. समणसुत्तं (हिन्दी पद्यानुवाद) — श्री प्रकाश चन्द्र जैन 'दास' १७४
१४ डॉ. ज्योति प्रसाद जैन की पुण्य तिथि — श्री रमा कान्त जैन १७५
१५. साहित्य सत्कार :
समयसार — प्रो. खुशाल चन्द्र गोरावाला १७७
वात्सल्य रत्नाकर; जैन इतिहास के प्रेरक व्यक्तित्व; दूर्वा;
परीक्षामुख; जैन दर्शन में बन्ध-मोक्ष; कौण्डेश से कुन्दकुन्द;
नाटक हो तो ऐसे; कुन्दकुन्द-सूक्ति-सुधा — श्री रमा कान्त जैन १८२
जैन समाज वर्धा के सौ वर्ष; बारह-भावना; देव, शास्त्र और गुरू;
जैन श्रमण : स्वरूप और समीक्षा; कुशल निर्देश; धर्म मंगल;
ज्ञान शलाका — डॉ. शशि कान्त १८५
१६. समाचार विमर्श : — श्री अजित प्रसाद जैन
शास्त्री परिषद का अधिवेशन १९०
स्थानकवासी समाज के अनुकरणीय निर्णय १९२

	महंगे चातुर्मास	१६४
	श्री मानतुंगाचार्य की चरण-पादुका	१६५
१७.	अभिनन्दन	१६६
१८.	समाचार विविधा	१६७
१६.	आभार	१६८
२०.	शोक संवेदन	१६८
२१.	पाठकों की दृष्टि में	२००

मूल्य प्रति–१० रु०

वार्षिक–२५ रु०

आजीवन–२५० रु०

निवेदन

सुधि पाठक कृपया अपनी सम्मति और सुझावों से अवगत करावें ताकि पत्रिका के स्तर को बनाये रखने और उन्नत करने में हमें प्रोत्साहन तथा उद्‌बोधन प्राप्त होता रहे। कृपया पत्रिका पहुंचने की सूचना भी देवें।

—सम्पादक मण्डल

आवश्यक सूचना

शोधादर्श चातुर्मासिक पत्रिका है और सामान्यतया इसके अंक मार्च, जुलाई व नवम्बर में प्रकाशित होते हैं।

शोधादर्श में प्रकाशनार्थ शोधपरक अप्रकाशित लेख आमन्त्रित हैं। लेख कागज के एक ओर सुवाच्य अक्षरों में लिखित अथवा टंकित होना चाहिए और उसमें यथावश्यक सन्दर्भ/स्रोत सूचित किया जाना चाहिए। लेख की एक प्रति अपने पास अवश्य रख लें।

शोधादर्श में समीक्षार्थ पुस्तकों तथा पत्र-पत्रिकाओं की दो प्रतियां भेजी जायें।

शोधादर्श में प्रकाशित लेखों को उद्धरित किये जाने में आपत्ति नहीं है, परन्तु **शोधादर्श** का श्रेय स्वीकार किया जाना और पूर्ण सन्दर्भ दिया जाना अपेक्षित है।

प्रकाशनार्थ लेख और समीक्षार्थ पुस्तक सम्पादक को 'ज्योति निकुंज, चारबाग, लखनऊ-२२६००४' के पते पर भेजे जायें।

लेखक के विचारों से सम्पादक मंडल का सहमत होना आवश्यक नहीं है। लेखों में दिये गये तथ्यों और सन्दर्भों की प्रामाणिकता के संबंध में लेखक स्वयं उत्तरदायी है।

सभी विवाद लखनऊ में स्थित सक्षम न्यायालयों/न्यायाधिकरणों के क्षेत्राधिकार के अधीन होंगे।

—प्रबन्ध सम्पादक

मुद्रक : रत्न-ज्योति प्रेस, चारबाग, लखनऊ-४ (उ० प्र०)

इस अंक के लेखक

श्री अजित प्रसाद जैन : उप सचिव, उ. प्र. शासन (अ. प्रा.)
मंत्री, तीर्थंकर महावीर स्मृति केन्द्र समिति, उ. प्र.
पारस सदन, आर्यनगर, लखनऊ-२२६००४

डा. अवतार सिंह : प्रोफेसर, विधि विभाग, लखनऊ वि. वि. (अ. प्रा.)
३६८, मोती नगर, लखनऊ-२२६००४

श्री ई. आई. एल. जेक्सन : उप सचिव, उ. प्र. शासन (अ. प्रा.)
मकबरा कम्पाउन्ड, हजरतगंज, लखनऊ-२२६००१

प्रो. खुशाल चन्द्र गोरावाला : बी-३६/२१ च ६, ब्रह्मानन्द नगर विस्तार,
वाराणसी-२२१००५

कु. जरीन विक्काजी : प्रेसीडेन्ट, पारसी असोसियेशन,
प्रवक्ता, अवध गर्ल्स कालेज
अवनबाई मेन्शन्स, ३, विधान सभा मार्ग,
लखनऊ-२२६००१

डा. ज्योति प्रसाद जैन (स्व.) : विश्व-विश्रुत विद्वान

श्री प्रकाश चन्द्र जैन 'दास' : १२-सी. डी., आदर्श नगर, आलमबाग
लखनऊ-२२६००५

श्री रमा कान्त जैन : उप सचिव, उ. प्र. शासन (अ. प्रा.)
ज्योति निकुंज, चारबाग, लखनऊ-२२६००४

श्री लक्ष्मी नारायण कुरील : पी. सी. एस. (अ. प्रा.)
बाग मुन्ना, नया गांव, लखनऊ-२२६०१८

डा. सुदर्शन लाल जैन : अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
१, सेन्ट्रल स्कूल कालोनी, वाराणसी-२२१००५

डा. शैल नाथ चतुर्वेदी : प्रो. एवं अध्यक्ष, प्राचीन भारतीय इतिहास विभाग,
गोरखपुर विश्वविद्यालय
५३, खुर्शेदबाग, लखनऊ-२२६०१८

डा. शैलेन्द्र कुमार रस्तोगी : सहायक निदेशक, राज्य संग्रहालय, लखनऊ
सपर्या, २२३/१०, रस्तोगी टोला, राजा बाजार,
लखनऊ-२२६००३

डा. शशि कान्त : विशेष सचिव, उ. प्र. शासन (अ. प्रा.)
ज्योति निकुंज, चारबाग, लखनऊ-२२६००४

णाणंणरस्स सारं-सच्चं सारंभूयं लोयम्मि

शोधादर्श-२६

वीर निर्वाण संवत् २५२१ जुलाई १९९५ ई०

गुरुगुण-कीर्तन

देवनन्दि पूज्यपाद

कवीनां तीर्थकृद्देवः कितरां तत्र वर्ण्यते ।
विदुषां वाङ्मलध्वंसि तीर्थं यस्य वचोमयम् ।।

—आचार्य जिनसेनः आदिपुराण, १/५२

भावार्थ—जिनका वाग्रूप जल (व्याकरण और लक्षण ग्रन्थ) विद्वानों के वचन-मल (शब्द सम्बन्धी दोषों) को धोने (दूर करने) वाला है और जो कवियों के तीर्थंकर के समान रहे, उन देव (देवनन्दि) का किस प्रकार या कितना वर्णन किया जा सकता है अर्थात् उनका वर्णन दुष्कर है।

इन्द्रचन्द्रार्कजैनेन्द्रव्यापिव्याकरणेक्षिणः ।
देवस्य देववन्द्यस्य न वन्द्यन्ते गिरः कथम् ।।

—पुन्नाटसंघीय आचार्य जिनसेनः
हरिवंश पुराण, १/३१

भावार्थ—इन्द्र, चन्द्र, अर्क, जैनेन्द्र (व्याकरण ग्रन्थों) में व्याप्त व्याकरण का ज्ञान रखने वाले और देवताओं द्वारा वन्दनीय देव (आचार्य देवनन्दि) की वाणी क्यों नहीं वन्दनीय है अर्थात् वन्दनीय है।

अपाकुर्वन्ति यद्वाचः कायवाक्चित्तसम्भवम् ।
कलङ्कमङ्गिनाम् सोऽयम् देवनन्दी नमस्यते ।।

—आचार्य शुभचन्द्रः ज्ञानार्णव, १/१५

भावार्थ—जिनकी वाणी अङ्गधारियों के काय, वचन और चित्त में उत्पन्न होने वाले कलङ्क (दोषों) को दूर करती है वह यह देवनन्दि हैं। उन्हें नमस्कार है।

यो देवनन्दि-प्रथमाभिधानो बुद्ध्या महत्या स जिनेन्द्रबुद्धिः ।
श्री पूज्यपादोऽजनिदेवताभिर्यत्पूजितं पादयुगं यदीयं ॥

—श्रवणबेलगोल के चन्द्रगिरि पर्वत पर महा-नवमी मण्डप में स्तम्भ के दक्षिण मुख पर उत्कीर्ण शक संवत् १०८५ (ईस्वी सन् ११६३) के लेख का श्लोक संख्या १०; जैन शिलालेख संग्रह, प्रथम भाग, लेख ४० (६४)

भावार्थ—जो पहले देवनन्दि कहलाये वह महती बुद्धि से जिनेन्द्र बुद्धि हुए और फिर जिनके पादयुगल की देवताओं द्वारा पूजा की गई वह श्री पूज्यपाद हुए। अर्थात् जिनका मूल नाम देवनन्दि था और जो अपनी प्रखर बुद्धि के कारण जिनेन्द्रबुद्धि कहलाये वह देवताओं द्वारा चरण पूजे जाने पर श्री पूज्यपाद कहलाये।

उपर्युक्त श्लोकों में जिन कवि, विद्वान, वैयाकरणी देवनन्दि पूज्यपाद का सादर स्मरण हुआ है वह अपने समय में कुन्दकुन्दान्वय के मूलसंघ की नन्दि अपरनाम बलात्कारगण शाखा के प्रधान एवं प्रभावक जैन आचार्य थे। इन्होंने संस्कृत में समाधितंत्र, इष्टोपदेश, शान्त्यष्टकं, दशभक्त्यादिसंग्रह, जैनेन्द्र व्याकरण और आचार्य उमास्वामि के तत्त्वार्थाधिगम सूत्र पर सर्वार्थसिद्धि टीका की रचना की थी। जैनाभिषेक या जन्माभिषेक और सिद्धिप्रियस्तोत्र भी इनकी रचनायें बताई जाती हैं। पाणिनी के सूत्रों पर शब्दावतार-न्यास की तथा एक छन्द-शास्त्र की रचना करने का श्रेय भी इन्हें दिया जाता है, किन्तु ये रचनायें सम्प्रति अनुपलब्ध हैं। आयुर्वेद के प्रसिद्ध आचार्य उग्रादित्य ने अपने ग्रन्थ कल्याणकारक में पूज्यपाद की शालाक्य-तन्त्र में अधिक निपुणता व प्रसिद्धि होने का उल्लेख किया है। इन्हें अनेक ऋद्धि-सिद्धि प्राप्त होने की किंवदन्तियां भी हैं।

देवनन्दि पूज्यपाद दक्षिण भारत में कर्नाटक के कोले नामक ग्राम में ब्राह्मण माधव भट्ट और श्रीदेवी के घर जन्मे थे। इनके पिता ने इनकी माता के आग्रह पर जैन धर्म अंगीकार कर लिया था, कहा जाता है। बचपन में एक नाग द्वारा निगले गये मेढक की तड़पन को देखकर इनके मन में विरक्ति उत्पन्न हुई और इन्होंने दीक्षा ले ली। ये तलकाड (दक्षिण कर्णाटक) के गंगवंशीय सम्राट दुर्विनीत के गुरु रहे थे। इनका समय अन्तः और बाह्य साक्ष्यों का परीक्षण करते हुए डा० ज्योति प्रसाद जैन ने ४६४-५२४ ई० निर्धारित किया है।

—रमा कान्त जैन

समाज के सामने चुनौती

—डा० ज्योति प्रसाद जैन

आज जैन समाज के सम्मुख अनेक चुनौतियाँ है। धार्मिक दृष्टि एवं प्रवृत्ति के संशोधन का प्रश्न प्रमुख है। धर्म का वास्तविक लक्ष्य विस्मृत हो गया है। स्थूल ऐहिक एवं तात्कालिक स्वार्थों के साधन तक ही धर्म सीमित रह गया है। आश्चर्य है कि धर्माधिकारियों के मुख से यह सार्वजनिक उद्घोष किया जा रहा है कि राजनीति और अर्थनीति के सहारे ही धर्म चलता है। वीतराग के धर्म में भी जब बदनाम राजनीति एवं अर्थनीति की पैठ को भरपूर प्रश्रय मिलने लगा है और मतलब परस्तों के लौकिक स्वार्थों, मान और लोभ कषायों के पोषण का ही माध्यम धर्म बनाया जाने लगा है तो ऋषभ, बाहुबलि और महावीर जैसे सर्वस्वत्यागी आत्मलक्ष्यी महापुरुषों के नामों को उसके बीच में घसीटना उनका मखौल उड़ाना है।

श्रवणबेलगोल का १९८१ का महोत्सव अभूतपूर्व शान-बान के साथ हुआ। देश-विदेश में उसका पूर्व एवं पश्चात प्रचार भी अत्यन्त हुआ। विभिन्न देशों के लगभग २०० प्रेस प्रतिनिधि उस अवसर पर उपस्थित रहे। अनेक देशी-विदेशी पत्रों में तद्विषयक समाचार, लेख आदि प्रकाशित हुए। बहुतों ने प्रशंसा की, अनेकों ने ढकी-दबी अथवा खुलकर आलोचना भी की। कई एक में तो काफी तीखी आलोचना की। सर्वाधिक आलोचनाएं धन एवं धनिकों को दिए गए आवश्यकता से अधिक महत्त्व को लेकर ही थीं। धन के साथ धन की बुराईयाँ आयेंगी ही और निस्पृह निष्परिग्रह मुनिराज भी यदि उससे सम्पृक्त होंगे तो उंगलियां उठेंगी ही। समस्त शौचों में अर्थशौच ही सर्वश्रेष्ठ है परन्तु सर्वाधिक दुष्कर भी है। आज की राजनीति-मिश्रित अर्थनीति में अर्थशौच की कोई गुंजाइश नहीं दिखती। इसी कारण राजनीतिक क्षेत्र की ही भाँति धर्म के क्षेत्र में भी निहित-स्वार्थी मतलब-परस्तों, चाटुकारों और चमचों का बोलबाला वृद्धिगत है। इधर तो कई कट्टर स्थितिपालक पत्रों ने भी वर्तमान मुनि संस्था में बढ़ते हुए शिथिलाचार पर चिन्ता व्यक्त की है—ये वही लोग हैं जो कि मुनि-आर्यिका आदि की हल्की से हल्की आलोचना करने वालों को मुनिनिन्दक की पदवी प्रदान कर देते थे और उनके नरक-निगोद में जाने का फतवा दे देते थे। पहले पंथवाद के अखाड़े थे, अब प्रत्येक मुनि व आर्यिका के अपने-अपने प्रतिष्ठान चलते हैं। जो गृहस्थों के लिए अशोभनीय तथा निंदनीय हो वह

साधु सन्तों के लिए कैसे शोभनीय हो सकता है ? आलोचना से भड़कना या क्षुब्ध नहीं होना चाहिए, वरन् अपना अन्त: परीक्षण करके कथित दोषों से मुक्ति पाने का प्रयास करना ही उचित है। पूजा-प्रतिष्ठाओं के अनावश्यक आडम्बर व प्रदर्शन, धर्माचरण के थोथे एवं भौंडे ढोंग और कालदोष से आ गई या आती जा रही विकृतियों आदि का संशोधन करके सच्चे धर्म भाव को पोषित करना एवं व्यापक बनाना ही धर्म मार्ग के संरक्षण एवं सच्ची प्रभावना के साधन हैं। धर्म के क्षेत्र से तो अर्थाधारित राजनीति अथवा राजनीति प्रभावित अर्थनीति का बहिष्कार करना ही समाज के लिए हितकर होगा।

इसी से जुड़ा प्रश्न समाज सुधार का है। शताब्दी के आरम्भ में समाज में यदि दस कुरीतियां थीं जिनमें से समय के प्रभाव से पांच-सात समाप्त भी हो गईं, तो बीसियों नवीन कुरीतियां प्रविष्ट हो गईं। संगठन और सुधार के नाम पर संस्थाओं की सेना है, उनके साथ ही साथ नेताओं की भीड़ है। किन्तु फालोअर कोई नहीं। प्रत्येक समाज सेवी, चाहे वैतनिक हो या समाज सेवा को अपने निहित स्वार्थों का साधन बनाये हो, राजनीतिक नेताओं की भांति ही कुर्सी परस्त, आत्म प्रचार में लीन और स्वार्थ साधन में व्यस्त है। फिर भी 'नि:स्वार्थ समाज सेवी', 'सतत समाज सेवारत' जैसे विशेषण लगाकर यह समाज का पैदाइशी नेता, कहने को समाज सेवक, समाज को उपकृत करने वाला नहीं वरन् अपने ऋणभार से उसे दबाये रखने वाला और ब्याज के रूप में अपने लिये उपाधियां, अभिनन्दन पत्र व समारोह, अभिनन्दन ग्रन्थ, पत्र-पत्रिकाओं के विशेषांक आदि बटोरने वाला ही दृष्टिगोचर होता है। कहाँ गये वे सच्चे समाज सेवी जिन्होंने सिवाय बहिष्कार, प्रतारणा, लांछन आदि के अतिरिक्त समाज से कभी कुछ नहीं लिया और अपने स्वयं के तथा अपने परिवार के ऐहिक स्वार्थों की उपेक्षा करके आजन्म समाज की सेवा में स्वयं को होम दिया ? ऐसे ही वीरों ने देश को स्वतन्त्र कराया, समाज में जाग्रति उत्पन्न की, उसमें प्राण फूंके और उसे अपने पैरों पर खड़े होने योग्य बनाया। गत एक सौ वर्षों में सैकड़ों ऐसे नि:स्वार्थी, सर्वथा समर्पित, समाज सेवी हो गये हैं। उनमें श्रीमंत भी रहे, साधारण स्थिति के सज्जन भी रहे, विद्वान भी रहे और मूक कार्यकर्ता भी रहे। उनका कोई नाम भी नहीं लेता। जैसे महात्मा गांधी के सहयोगी दिवंगत स्वतन्त्रता सेनानियों को आज के राजनेता भूल गए, समाज के दिवंगत सच्चे सेवकों को आज के समाज नेताओं ने भुला दिया।

समाज में आज निस्वार्थ एवं समर्पित समाज सेवियों का अभाव है। समाज को यदि जीवित रहना है और प्रगतिशील बनना है तो नई पीढ़ी में सेवाभाव भरना होगा। एक सच्चा समाज सेवी पचासों स्वार्थी समाज नेताओं से बेहतर है। समाज में जागरुकता होगी, समर्पित समाज सेवी सज्जन उत्साह-पूर्वक सम्यक् सुधार के लिए प्रयत्नशील होंगे, तो समाज का सुधार होने में देर नहीं लगेगी।

साम्प्रदायिक समन्वय एवं संगठन की बड़ी-बड़ी बातें कही जाती हैं। आज कई संस्थाएं एवं कई पत्र-पत्रिकाएं इसी उद्देश्य को लेकर चल रही हैं—ऐसा उनका दावा है। किन्तु क्या साम्प्रदायिक वैमनस्य, पंथ व्यामोह, तीर्थों को लेकर चलने वाले झगड़े-टंटों में कहीं कोई अंतर आया? सभी सम्प्रदाय व रूप सम्प्रदाय और पंथ अपने-अपने संकीर्ण दायरों में पूर्ववत् ही कैद हैं। ऋषभ, बाहुबलि और महावीर आदि वीतराग भगवानों का नाम लेने वालों, उन महापुरुषों के आदर्शों एवं शिक्षाओं की कुछ झलक तो अपने जीवन में आने दो। तभी स्वयं को उनका उपासक कहना सार्थक होगा और स्व पर कल्याण का मार्ग प्रशस्त होगा।

[श्रद्धेय डाक्टर साहब के कागजों में उनका उपर्युक्त लेख मिला। यह जनवरी १९८२ में लिखा गया था। उनकी डायरी से मालूम हुआ कि उन्होंने इसे **वीर, जैन संदेश** और **जैन गजट** को प्रकाशनार्थ भेजा था परन्तु ये पत्र उसे प्रकाशित करने का साहस नहीं जुटा पाये। उन्हें इसका अन्त समय तक संताप रहा कि अब जैन समाज में एक भी पत्र-पत्रिका ऐसी नहीं है जो सेठ-साधु गठबन्धन की काली परछाई से मुक्त हो। अपने महाप्रयाण से २ वर्ष पूर्व १९८६ में **शोधादर्श** का प्रारम्भ उन्होंने उक्त स्थिति का भी परिहार करने के लिए किया था।

विगत १३ वर्षों में स्थिति और भी बिगड़ती ही गई है। व्यक्तिगत पत्राचार में तो मनीषी लोग इस पर चिन्ता व्यक्त करते हैं परन्तु सार्वजनिक रुप से कहने का साहस नहीं करते—यह धर्म भीरुता है या नैतिक साहस की कमी, वे स्वयं जानें। सेठ-साधु गठबन्धन का शुद्ध व्यापारी गणित है—हम तुम्हें महात्मा कहेंगे, तुम हमें धर्मात्मा कहो।

साधु-संस्था में अनाचार-दुराचार की बातें जब सार्वजनिक पत्रों में भी आ गईं तो उस पर लीपा-पोती करना या उसे दबाने का प्रयास करना, हमारी दृष्टि में धर्म-संरक्षण नहीं वरन् शुद्ध अधर्म-प्रोत्साहन है। पुरानी कहावत है—Caesor's wife should be above suspicion, अर्थात् जो साधु-समुदाय और समाज का नेता वर्ग है उसका आचरण सन्देह से परे होना चाहिये।

समाज के प्रबुद्ध वर्ग का दायित्व है कि जिन मुनि-आर्यिका के विरुद्ध अनाचार-दुराचार के कथित आरोप भी हों उन्हें जब तक प्रवाद का परिमार्जन न हो जाये, उपसर्ग स्वरुप दीक्षा छेदकर सद्गृहस्थ बनने को प्रेरित करें और यदि वे स्वयं ऐसा न कर पायें तो उन्हें उनके द्वारा बटोरे गये धन में से कुछ लाख रुपया देकर गृहस्थ का बाना पहनने को बाध्य करें। अर्थशौच से विरत साधु-साध्वियों को भी सद्गृहस्थ बनने के लिए प्रेरित करना अपेक्षित है। जो मुनि वेश धारण करके भी भगवान महावीर या किसी अन्य पूज्य तीर्थंकर-अर्हन्त परमेष्ठि का सार्वजनिक रुप से जीवन्त-अभिनय करने की धृष्टता करे इसके लिए उस महापुरुष को समाज क्या दण्ड दे, यह धर्मशास्त्रों के पारंगत विद्वान सुनिश्चित करें।

समाज के वयोवृद्ध विद्वानों, अग्रणियों और चिन्तकों, जिनके लिये अब स्वार्थ साधन का कोई उपयोग नहीं है, का नैतिक दायित्व है कि वे निर्भीक होकर बेबाक तरीके से इस विषम स्थिति का परिहार करने के लिए नई पीढ़ी को उद्बोधित, प्रेरित और प्रोत्साहित करें। नई पीढ़ी के शिक्षित समुदाय को स्वयं भी इस ओर सचेष्ट होना अभीष्ट है।

—डा० शशि कान्त]

सम्पादकीय

वाग्देवी के अवतरण का पर्व—श्रुतपंचमी

जैन आगमों की रचना के विषय में यह ऐतिहासिक तथ्य है कि अन्तिम तीर्थंकर महाप्रभु भगवान महावीर स्वामी की प्रथम देशना श्रावण कृष्ण प्रतिपदा को पंच-शैलपुर राजगृह के मनोरम विपुलाचल पर्वत पर लगे समवशरण में हुई थी। समवशरण भगवान की धर्म सभा को दिया गया नाम है क्योंकि उसमें जगत के प्रत्येक प्राणी को बिना किसी भेद-भाव के एक साथ बैठ कर भगवान की दिव्य ध्वनि सुनकर अपना कल्याण करने का समान अधिकार प्राप्त था। प्रथम देशना की पूर्व-संध्या को अर्थात् आषाढ़ी पूर्णिमा को उस समय के विख्यात ११ ब्राह्मण महापंडितो ने भगवान से अपनी शंकाओं का समाधान प्राप्त कर अपने विशाल शिष्य परिवार सहित भगवान का शिष्यत्व ग्रहण कर लिया था जिस कारण आषाढ़ी पूर्णिमा लोक में गुरू-पूर्णिमा पर्व के रूप में विख्यात हुई। ये महापंडित भगवान के गणधर, अर्थात् प्रमुख शिष्य, बने जिनमें श्री इन्द्रभूति गौतम अग्रणी थे। यह घटना वर्ष ५५७ ई० पूर्व में घटित हुई थी।

तीर्थंकर महावीर प्रभु अपने १२ वर्ष के दीर्घ एवं कठोर साधना काल में प्रायः मौन ही रहे थे। न तो उन्होंने कोई उपदेश दिया था और न ही कोई शिष्य बनाया था। उन्होंने केवलज्ञान अर्थात् पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेने के बाद ही अपने प्रथम शिष्य बनाए थे जिनमें ११ गणधर प्रमुख थे और तब ही उन्होंने सभी प्राणियों के कल्याणार्थ धर्मोपदेश देना प्रारम्भ किया था।

अनुश्रुति है कि तीर्थंकर भगवान महावीर स्वामी की दिव्य देशना अर्थ-रूप थी जिसे गणधर देवों ने शब्दों में गुम्फित करके द्वादशांग श्रुत का रूप दिया। यही द्वादशांग जिनवाणी कहलाई। श्रुत का अवतरण हुआ। भगवान महावीर स्वामी से सहस्रों-सहस्रों वर्षों पूर्व मानव सभ्यता के ऊषा काल में जन्मे आदि तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव से लेकर २३वें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ पर्यन्त सभी तीर्थंकरों ने इसी प्रकार श्रेय मार्ग का उपदेश दिया था किन्तु वह अंतहीन काल-प्रवाह में लुप्त हो चुका था।

भगवान महावीर स्वामी के प्रमुख शिष्यों इन्द्रभूति गौतम आदि गणधरों द्वारा गुम्फित द्वादशांग श्रुत को सैकड़ों वर्षों तक ज्योतिर्धर आचार्यों द्वारा गुरू-

शिष्य परम्परा से स्मृति पटल पर संजोए रखने का प्रयास किया गया किन्तु वीर निर्वाण के १६२ वर्ष के उपरान्त ही सम्पूर्ण श्रुत के धारक प्रज्ञावान आचार्यों की परम्परा अन्तिम **श्रुतकेवली** भद्रबाहु स्वामी के साथ समाप्त हो गई तथा स्मृति-क्षीणता के कारण **द्वादशांग श्रुत** के कतिपय अंशों के एक-देश ज्ञाता आचार्य एवं मुनिराज ही विद्यमान रह गए। दिगम्बर जैन परम्परा के अनुसार **द्वादशांग श्रुत** के बहुभाग का स्मृति-क्षीणता के कारण लोप हो गया तथा अवशिष्ट श्रुत को भी भविष्य में विलुप्त हो जाने की आशंका से चिन्तित होकर श्रुत के कुछ एक-देश ज्ञाता आचार्यों ने अपने को गुरू-शिष्य परम्परा से प्राप्त श्रुतांश को स्वतन्त्र ग्रंथो के रूप में निबद्ध करना प्रारम्भ कर दिया। श्रुत-केवलियों के उपरान्त की ईसा पूर्व की शताब्दियों में इन श्रुतधर आचार्यों की अनुकम्पा से रचे गए महान ग्रंथों में भगवत् कुन्दकुन्दाचार्य के **समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, अष्ट पाहुड** आदि, भगवान गुणधराचार्य कृत **कषाय पाहुड,** आचार्य वट्टकेरि कृत **मूलाचार** तथा शिवार्य कृत **भगवती अराधना,** दिगम्बर जैन सम्प्रदाय के मूल आगम ग्रंथों में प्रमुख हैं। पर श्रुतदेवी का अवतरण अभी तक नहीं हुआ माना जाता क्योंकि उन ग्रंथो की रचना तो हुई पर उनके रचना काल में उन्हें लिपिबद्ध नहीं किया गया। परम वीतरागी, परम निष्परिग्रही, सतत् परिव्राजक, दिगम्बर जैन मुनिराज करुणा एवं शुचिता के प्रतीक उपकरण मयूर-पिच्छी तथा कमंडल के अतिरिक्त अन्य कोई परिग्रह अपने साथ नहीं रखते थे। शास्त्रों का ज्ञान कंठस्थ रूप में ही निर्ग्रन्थ मुनिराज अपने साथ लेकर सतत विहार करते रहते थे।

श्रुत देवी के अवतरण का श्रेय सर्वप्रथम प्राप्त हुआ आचार्य द्वय भगवंत पुष्पदंत व भूतबलि को जिन्होंने अपने शिक्षा गुरू श्रुतधर आचार्य धरसेन से **द्वादशांग जिनवाणी** के बारहवें **दृष्टिवाद अंग** में समाहित अग्रायणी पूर्व के चयन लब्धि अधिकार के **कर्म प्रकृति प्राभृत** का अध्ययन करके **षट्खण्डागम** ग्रंथ की रचना की तथा उसे ताड़पत्रों पर लिपिबद्ध कराकर चतुर्विध संघ ने सन् ७५ ई० की ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी को इस ग्रंथ को पुस्तकारूढ़ कर इसकी पूजा की। श्रुत देवी का अवतरण हुआ। वीणा-पाणि देवी सरस्वती के जैन संस्करण ने पुस्तक-धारिणी ज्ञान की देवी का रूप धारण किया तथा ज्ञान के सार्वजनिक प्रचार-प्रसार के युग का प्रारम्भ हुआ। पुस्तक-धारिणी वाग्देवी की सन् १३२ ई० की एक प्रतिमा भी मथुरा के कंकाली टीले के उत्खनन से प्राप्त हुई है। ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी **श्रुतपंचमी** या **ज्ञान-पंचमी** पर्व के रूप में विख्यात हुई।

कदाचित् यह किसी ग्रंथ के पुस्तकारूढ़ किए जाने का विश्व के सम्पूर्ण इतिहास में प्राचीनतम ऐतिहासिक उल्लेख है। श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय में धर्म ग्रंथों के लिपिकरण की प्रक्रिया **षट्खंडागम** ग्रंथ की रचना एवं लिपिकरण के लगभग ४०० वर्ष बाद से ही प्रारम्भ हुई जब देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण ने वल्लभी नगर में श्रुतधर मुनियों के सम्मेलन में सम्पन्न हुई तीसरी आगम वाचना के आधार पर अवशिष्ट **अंग सूत्रों** को संकलित कर लिपिबद्ध किया था।

षट्खंडागम दिगम्बर जैन सम्प्रदाय का प्रथम आगम ग्रंथ है जो लिपिबद्ध करके पुस्तकारूढ़ किया गया। श्रुत पंचमी के दिन इस सम्प्रदाय द्वारा शास्त्रों को वेदिका पर प्रतिष्ठापित कर श्रुत देवी सरस्वती की पूजा की जाती है, शास्त्र भंडारों की विशेष सार-संभाल व झाड़-पोंछ की जाती है, हस्तलिखित जीर्ण-शीर्ण पन्नों को बदला जाता है या सुरक्षित किया जाता है और हस्त-लिखित शास्त्रों को नये वेष्ठनों में बांधा जाता है। इस दिन मंदिरों के शास्त्र भंडारों को धर्मनिष्ठ श्रावक शास्त्र भेंट करने में विशेष पुण्य मानते हैं।

वस्तुतः यह श्रुत पंचमी पर्व शास्त्र भंडारों–पुस्तकालयों के प्रारम्भ किए जाने का स्मृति पर्व है। दूर-दृष्टि जैन आचार्यों ने गृहस्थ धर्म में दान की महत्ता पर विशेष बल दिया था, और गृहस्थ द्वारा दिये जाने वाले औषधि, आहार व अभय दान के साथ-साथ शास्त्र दान के द्वारा विशेष पुण्य का अर्जन होना घोषित किया था तथा श्रावक के षट् आवश्यक नैत्यिक कर्मों में शास्त्र-पूजा तथा स्वाध्याय को विशेष स्थान दिया था। परिणाम स्वरूप हमें मध्ययुगीन शिलालेखों से पता चलता है कि धर्मनिष्ठ राजन्य एवं श्रेष्ठि वर्ग आचार्यों, कवियों एवं विद्वानों से अनुरोध करके नवीन ग्रंथों का निर्माण कराते थे तथा ग्रंथ पूर्ण होने पर गाजे-बाजे के साथ उसकी हाथी पर शोभायात्रा निकालते थे और ग्रंथ की अनेक प्रतिलिपियां तैयार करा कर विभिन्न स्थानों के मंदिरों को भेंट स्वरूप भेजते थे। श्रवणबेलगोला (कर्नाटक) के एक शिलालेख से पता चलता है कि होयसल्ल सम्राट विष्णुवर्धन की पट्ट महादेवी शान्तला देवी (१०९०–११२८ ई०) ने **षट्खंडागम** ग्रंथ को (एक लाख श्लोक प्रमाण धवला टीका सहित) ताड़ पत्रों पर उत्कीर्ण करा कर जिन मंदिरों को दान स्वरूप भेंट किया था। ग्रंथ के पत्रों पर शान्तला देवी तथा सम्राट विष्णुवर्धन के स्वर्ण चित्र भी अंकित किए गए थे। एक अन्य शिलालेख से पता चलता है कि उससे भी लगभग १०० वर्ष पूर्व चालुक्य सम्राट तैलप वाहकमल्ल के महादंडनायक श्रेष्ठि-पुत्र नागदेव की धर्म-परायण पत्नि सती अतिमब्बे ने कन्नड़ के महाकवि पोन्न द्वारा **शान्तिनाथ**

पुराण की रचना कराई तथा उसकी एक सहस्र प्रतियां ताड़पत्रों पर उत्कीर्ण करा कर विभिन्न जैन मंदिरों में वितरित करा कर दान चिन्तामणि का विरुद अर्जित किया था।

धर्मनिष्ठ श्रावक-श्राविकाओं द्वारा शास्त्र-दान का पुण्य अर्जित करने की अदम्य भावना ने मुद्रण के युग के पूर्व-काल में श्रावक लिपिकारों के एक वर्ग को ही जन्म दे दिया था जो स्नानादि के बाद शुद्ध वस्त्र पहन कर शुद्ध रूप से तैयार की गई स्याही से हाथ से बने कागजों पर बड़े भक्तिभाव से शास्त्रों की प्रतिलिपियां तैयार किया करते थे। इन में से ही कालान्तर में एक-से-बढ़-कर-एक शास्त्र-मर्मज्ञ गृहस्थ विद्वान पैदा हुए।

मुद्रण युग प्रारम्भ होने के बाद आज भी धर्मनिष्ठ जैन श्रावकों द्वारा शास्त्र-भंडारों को शास्त्र-दान देने की प्रथा कायम है तथा जैन मंदिरों में विशाल शास्त्र-भंडार इस प्रथा के सुफल रूप में नित्य प्रति अभिवृद्धि कर रहे हैं। हमारी राज्य सरकारें भी पुस्तक अनुदान द्वारा सार्वजनिक पुस्तकालयों के पुस्तक भंडारों में सत् साहित्य की अभिवृद्धि कर प्रच्छन्न रूप से ज्ञान की देवी पुस्तक-धारिणी सरस्वती की उपासना कर रही हैं। हम सब मिल कर ज्ञान के प्रचार-प्रसार के पर्व को मनाएं तथा सत् साहित्य खरीद कर व सत् साहित्य के स्वाध्याय का नियम लेकर वाग्देवी की उपासना करें।

— अजित प्रसाद जैन

रिपोर्ट

श्रुतपंचमी पर्व पर संगोष्ठी

ज्येष्ठ शुक्ल पंचमी, शनिवार, दिनांक ३ जून, १९९५, को तीर्थंकर महावीर स्मृति केन्द्र समिति, उ. प्र., के तत्त्वावधान में श्रुतपंचमी पर्व के उपलक्ष में सभी प्रमुख धर्मों के धर्म-ग्रन्थों के लिपिकरण/पुस्तकीकरण के विषय पर बाल रवीन्द्रालय, चारबाग, लखनऊ में एक संगोष्ठी (seminar) का आयोजन किया गया।

यह आयोजन भगवान महावीर की अनेकान्त दृष्टि के परिप्रेक्ष्य में इस विशेष अभिप्राय से किया गया कि विश्व के सभी महान धर्मों के प्रमुख धर्मग्रन्थों के लिपिकरण और पुस्तकीकरण के सम्बंध में उन धर्मों के निष्ठावान, पर साथ ही समझदार, अनुयायियों से अधिकारिक वस्तुपरक जानकारी प्राप्त की जा सके। हमें इस बात की प्रसन्नता है कि सिख, इस्लाम, ईसाई, पारसी, बौद्ध और हिन्दू धर्म के अधिकारी प्रबुद्ध विद्वानों ने इस संगोष्ठी में अपना अमूल्य योगदान प्रदान किया।

संगोष्ठी की अध्यक्षता वाराणसी से पधारे वयोवृद्ध विद्वान और स्वतन्त्रता संग्राम सेनानी प्रो० खुशाल चन्द्र गोरावाला ने की।

षट्खंडागम और पुस्तकधारिणी सरस्वती के चित्रों पर माल्यार्पण के उपरान्त श्रीमती सुधा जिन्दल ने जिनवाणी की वन्दना का सस्वर पाठ किया और कु० सुस्मिता बोस ने सरस्वती वन्दना प्रस्तुत की। उन्होंने सूर, कबीर और नानक के पद भी प्रस्तुत किये जो सभी धर्मों में समाहित आध्यात्मिक एकता को उद्घोषित करते हैं।

मंत्री, श्री अजित प्रसाद जैन, के स्वागत सम्बोधन एवं प्रास्ताविक के पश्चात अर्वाचीन से प्राचीन की ओर चलते हुए सर्वप्रथम लखनऊ विश्वविद्यालय के विधि विभाग के अ.प्रा. प्रोफेसर डा. अवतार सिंह ने सिख धर्म के गुरु ग्रन्थ साहब के पुस्तकीकरण के संबंध में बताया कि गुरु नानक ने स्वयं कुछ नहीं लिखा था और उनके द्वारा अपनी शिक्षाओं का प्रसार करने के प्रायः १५० वर्ष बाद उनकी वाणी को अन्तिम रूप से १६९९ ई० में गुरु ग्रन्थ साहब के रूप में पुस्तकारूढ़ किया गया।

उत्तर प्रदेश के भूतपूर्व लोकायुक्त तथा इलाहाबाद उच्च न्यायालय के न्यायाधीश, न्यायमूर्ति श्री मुरतजा हुसैन ने इस्लाम धर्म के प्रमुख ग्रन्थ क़ुर्आन

शरीफ़ के बारे में बताया कि पैगम्बर मुहम्मद साहब को जो हिदायतें और अहकामात उनके जीवनकाल में ४० वर्ष की उम्र से ६२ वर्ष की उम्र तक आते रहे, उन्होंने इन्हें स्वयं नहीं लिखा। उनके शिष्य खुल्फाइ राशिदीन उन्हें कहीं लिखकर या याद करके महफ़ूज़ रखते थे। तीसरे खलीफ़ा हज़रत उस्मान ने ६५६ ई० के लगभग, मुहम्मद साहब के २४ वर्ष बाद क़ुर्आन शरीफ़ को अन्तिम रूप से पुस्तकीकृत किया।

श्री हुसैन ने कहा कि यह संगोष्ठी धार्मिक समभाव की ओर एक ठोस कदम है। उन्होंने बताया कि किसी धर्म के साथ बाबस्तगी एक संयोग है जो पैदायश के हादसे पर मुनस्सिर है। जिस कुल में हम पैदा होते हैं और जिन संस्कारों में पल कर हम बड़े होते हैं उन्हीं के अनुसार हमारे धार्मिक विचार, अक़ीदे और आचरण होते हैं।

न हिन्दू बुरा है, न मुसलमान बुरा है।
आ जाये बुराई तो हर इन्सान बुरा है॥

अक़ीदा हर शख्स का ज़ाती मामला है। धर्म का सार यह है कि इन्सान का इन्सान के साथ सलूक अच्छा हो, तभी वह अच्छा शहरी बनेगा और उसका यह सलूक अल्लाह को भी अच्छा लगेगा।

उत्तर प्रदेश शासन के अ. प्रा. उप सचिव श्री ई. आई. एल. जैक्सन ने ईसाई धर्म की धर्म पुस्तक इंजील (Bible) के सम्बन्ध में बताया कि ईसा मसीह द्वारा स्वयं अपनी शिक्षाओं को लेखबद्ध नहीं किया गया था। ईसा के बाद वर्ष ६५ से ९६ तक बाइबिल के विभिन्न अंशों का लेखन किया गया।

पारसी एसोसियेशन की प्रेसीडेंट और अवध गर्ल्स डिग्री कालेज की प्राध्यापक कु. ज़रीन विक्काजी ने पारसी धर्म के धर्म ग्रन्थ ज़ेन्द अवेस्ता के सम्बन्ध में बताया कि पारसी धर्म के संस्थापक ज़रथुस्त लगभग १००० ईसा पूर्व में हुए थे। उनके द्वारा रचो गई गायायें अवेस्तन भाषा में थीं जो अब उपलब्ध नहीं हैं। जो ग्रन्थ अब उपलब्ध है वे ज़रथुस्त के प्रायः १५०० वर्ष पश्चात ५वीं शती इस्वी में ईरान में पहलवी भाषा में लिखे गये थे। परन्तु ईरान पर मुसलमानों के आक्रमण के दौरान इनका भी बहुभाग नष्ट कर दिया गया और आठवीं शती में जो पारसी भारत आये तथा अन्यत्र गये वे अपने साथ धर्म ग्रन्थ का जो भाग बचा कर ले जा सके वही अब ज़ेन्द अवेस्ता के रूप में जाना जाता है।

उ० प्र० शासन के अ. प्रा. संयुक्त सचिव श्री लक्ष्मी नारायण कुरील, पी. सी. एस., ने बौद्ध धर्म के **त्रिपिटक** के विकास, संरचना और लिपिकरण पर प्रकाश डाला। **त्रिपिटक** को सिंहल द्वीप (श्री लंका) में ईसा पूर्व की प्रथम शती में लिपिबद्ध किया गया।

गोरखपुर विश्वविद्यालय के प्राचीन भारतीय इतिहास के अ. प्रा. प्रोफेसर डॉ. शैलनाथ चतुर्वेदी ने हिन्दू धर्म के विशिष्ट धर्म-ग्रन्थों के लिपिबद्ध किये जाने के सम्बन्ध में जानकारी दी।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, के संस्कृत विभाग के अध्यक्ष तथा अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत् परिषद के मंत्री, डॉ. सुदर्शन लाल जैन ने जैन श्रुत-आगम के लिपिकरण/पुस्तकीकरण पर समीक्षा दी।

राज्य संग्रहालय, लखनऊ, के सहायक निदेशक डॉ. शैलेन्द्र कुमार रस्तोगी ने बताया कि विद्या की देवी सरस्वती की पुस्तकधारिणी के रूप में सर्वप्राचीन उपलब्ध मूर्ति उस पर अंकित लेख के अनुसार १३२ ईस्वी की है और यह मूर्ति जैन आम्नाय की है। इससे यह भासित होता है कि इस्वी सन् की प्रथम शताब्दी में जैन धर्मानुयायियों में अपने धर्म ग्रन्थों को पुस्तकारूढ़ करने की परम्परा प्रारम्भ हो गई थी।

प्रो. खुशाल चन्द्र गोरावाला ने अपने अध्यक्षीय समाहार में सभी विद्वान वक्ताओं के विचारों को समाकलित करते हुए यह विचार व्यक्त किया कि इस संगोष्ठी की परिकल्पना बहुत सूझबूझ से की गई है और यह भगवान महावीर के दर्शन के अनेकान्त सिद्धान्त को एक व्यवहारिक स्वरूप प्रदान करने का सराहनीय प्रयास है। यह एक विचित्र सत्य है कि किसी भी शास्ता, ऋषि या पैगम्बर ने अपनी शिक्षाओं को स्वयं लेखबद्ध नहीं किया और उनकी शिक्षाओं को समाहित करने वाले जो धर्मशास्त्र/ग्रन्थ आज हैं वे सभी उन धर्म गुरुओं के काफी समय बाद उनके शिष्यों-प्रशिष्यों द्वारा उनके नाम से लेखबद्ध किये गये।

समिति के अध्यक्ष श्री सुमेर चन्द पाटनी के धन्यवाद ज्ञापन के पश्चात संगोष्ठी का समापन हुआ।

श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन (धर्म संरक्षिणी) महासभा के अध्यक्ष श्री निर्मल कुमार सेठी ने अपना सन्देश भेजा है कि "आपने संगोष्ठी पर जो यह नया प्रयोग किया है वह अत्यन्त प्रशंसनीय है।" (शेष पृष्ठ १४६ पर)

सिख धर्म और गुरू ग्रन्थ साहब

— डॉ० अवतार सिंह

यह विश्वास किया जाता है कि सिख धर्म, यदि इसमें कोई विशेष धर्म होने के लक्षण हैं तो, का आरम्भ गुरू नानक के साथ हुआ और दस गुरूओं की शृंखला को पूरा करके, अन्तिम गुरू गोविंद के साथ यह एक धर्म के रूप में उभर कर सामने आया।

गुरू ग्रन्थ जो इस धर्म की एक मात्र बुनियादी पुस्तक है, का भी आरम्भ गुरू नानक से हुआ और गुरू गोविंद के समय उसका अन्तिम रूप सम्पन्न हुआ। इस ग्रन्थ का पहला भाग **जप जी** के नाम से जाना जाता है। इसमें जो सोच-विचार की गहराई है और प्रभु से ताल-मेल बैठाने का जो तरीका मिलता है, और जिस प्रभु को सत्य के नाम से वर्णित किया गया है, इन सब को देख कर यह विश्वास किया जाता है कि जब १५५० ई० में गुरू नानक बहुत लम्बी-चौड़ी यात्राएं करने और हर प्रकार के स्थान तथा धर्म के लोगों से मिलने के बाद करतारपुर में बैठ गए तो उनके साथी, श्री लेहणा, जिन्हे गुरू नानक से दूसरे गुरू (गुरू अंगद) होने का वरदान मिला, को **जप जी** लिखाया गया या हो सकता है कि उन्होंने उसे मौखिक रूप से याद रखा हो और बाद में लिखा हो। इसके बाद ८ गुरूओं में से तीन ने कोई वाणी नहीं लिखी और गुरू गोविंद सिंह ने अपनी वाणी ग्रन्थ में नहीं डाली। इस प्रकार ६ गुरूओं की वाणी इसमें मिलती है। कुल वाणी प्रार्थना का एक रूप है और कुल प्रार्थना गुरू नानक देव के नाम पर ही की गई है, सिवाय उन वाणीकर्ताओं के जो गुरूओं की शृंखला से बाहर थे और जिन्होंने अपने नाम पर कल्पना की, जैसे कि संत कबीर, संत फ़रीद, संत रविदास आदि। प्रत्येक प्रार्थना के लिए यह

(पृष्ठ १४५ का शेष)

राम मनोहर लोहिया विश्वविद्यालय, फैजाबाद, के कुलपति प्रो. डॉ. अंगने लाल ने भी अपना मंगल संदेश भेजा है—"सर्वधर्म समवाय का आयोजन सुखद है। आशा है इसका परिणाम भी सुखद ही होगा।"

डॉ. सिंह, श्री जैक्सन, कु. विक्काजी, श्री कुरील, डॉ. चतुर्वेदी, डॉ. जैन और डॉ. रस्तोगी की वार्ताओं के आलेख आगे के पृष्ठों पर प्रकाशित हैं।

— डॉ० शशि कान्त
संयोजक

आवश्यक होता है कि वह किसी-न-किसी को सम्बोधित की जाए। जिसे वह प्रार्थना सम्बोधित की गई उसका नाम सत्य बताया गया, "सत्य नाम"। कहीं-न-कहीं कोई-न-कोई सच्चाई तो होगी क्योंकि यह माना नहीं जा सकता कि सब कुछ एक संयोग के हवाले कर दिया गया था। यह जताने के लिए कि सच्चाई है और उसी का नाम भगवान है, प्रकृति की ओर ध्यान लगाया गया और इसमें जो सुंदरता, रंग, किस्म-किस्म के रूप, कला आदि है उन सबको पकड़-पकड़ कर सामने लाकर सुनने-पढ़ने वालों को यह सबूत दिया गया कि यही मालिक के रूप हैं। प्रकृति के भेद खोलने वाले जो पीर-पैगम्बर बीच-बीच में आते रहते हैं और जिन्हें किसी-न-किसी नाम से जाना जाता है उन सब को उस सच्चाई का अवतार मान कर उनका नाम कई स्थानों पर आवश्यकता के अनुसार प्रयोग किया गया है। सब से अधिक "हरि" आते हैं, अमृतसर के स्वर्ण मन्दिर का नाम "हरि मन्दिर" है, फिर राम आते हैं, "राम सिमर, राम सिमर, राम सिमर, ए ही तेरा कार्य है"। इनके अतिरिक्त, प्रभु, ईश्वर, गोसाईं, गोविंद, मालिक, इलाहीं, खुदाए, आदि उपयोग में आते हैं। पांचवे गुरू, अर्जुन देव, ने अपने प्रभु को एक स्थान पर "यार" और "साजन" कह कर सम्बोधित किया : "सुन यार हमारे साजन सुन, यह बिनिन्तिया"।

पांचवे गुरू, अर्जुन देव, ने जो सामग्री पिछले गुरुओं से विरासत में पाई तथा अन्य साधनों से उसे प्राप्त करके गुरमुखी लिपि तैयार करवाई और अपनी वाणी जोड़कर ग्रन्थ को पहली बार एक सम्पूर्ण धर्म ग्रन्थ के रूप में ग्रंथित किया। इसे **आदि ग्रन्थ** नाम दिया गया। गुरू नानक की रचना जो **जप जी** के रूप में प्रथम भाग है उसमें सच्चाई को "आदि सत्य, जुगादि सत्य" के रूप में वर्णन किया गया है। "आदि" शब्द वहीं से मिला। समय ऐसा आ गया था कि ग्रन्थ को ग्रंथित करना आवश्यक हो गया था। धर्म-सम्बन्धी अत्याचार शुरू हो चुके थे। यह सम्भावना नजर आने लगी थी कि पांचवे गुरू को कुरबान होना पड़ेगा और उनके बाद उनको मानने वाले सभी अपनी बारी लेंगे। मानने वालों को एक आधार दे देना जरुरी हो गया था जिससे कि वे संगठित हो सकें।

फिर लगातार संघर्ष चलता रहा। संघर्ष के दो रूप भी हो गए। एक संघर्ष हुकूमत के खिलाफ था जिसका उद्देश्य था धर्म की स्वतन्त्रता का सिद्धान्त स्थापित करना और दूसरा संघर्ष गुरू गद्दी पाने के लिए था। जो संघर्ष शुरू हो चुका था उसे सम्भालना था। गुरू गोविंद सिंह ने अवसर पाकर गुरू गद्दी की

शृंखला को समाप्त कर दिया और ग्रन्थ को अन्तिम रूप देकर ग्रन्थ को ही गुरू का पद दे दिया और **आदि ग्रन्थ** के स्थान पर अब उसका नाम **गुरू ग्रन्थ** हो गया।

इसको अन्तिम रूप देने के लिए गुरू गोविंद सिंह ने उस समय जितने भी धार्मिक वाणी लिखने वाले पीर-पैगम्बर थे, संत-महंत थे, सभी के साथ विचार-विमर्श किया। जो ३२ कवि इकट्ठे हुए थे उनमें कुछ की वाणी लेकर, चले आ रहे **आदि ग्रन्थ** को **गुरू ग्रन्थ** में १६६६ ई० में ग्रंथित किया और कहा : "सब सिखन को हुकम है गुरू मानियो ग्रन्थ।" अत: दस गुरुओं के जीवन काल के अंत के पूर्व करीब १५० वर्षों (१५५०–१६६६ ई०) में **गुरू ग्रन्थ** की रचना पूरी हो गई थी। सारी वाणी कविता के रूप में है और शब्दों की शृंखला में बांधी गई है और शब्द-कीर्तन की सहायता के लिए प्रत्येक शब्द के साथ उसका शास्त्रीय राग विद्या में स्थान बताया गया है।

अनेकों बातों में से जो व्यवहारिक प्रकृति का निचोड़ मिलता है वह यह है कि क्योंकि किसी-न-किसी को ईश्वर मानकर और जो भी जिसका ईश्वर है उसकी ओर ध्यान केन्द्रित करके उसकी इबादत आवश्यक होती है, जोर इस बात पर होना चाहिए कि उपासना सच्चे मन से हो और क्योंकि यह काम आसानी से नहीं किया जा सकता, इस कार्य को व्यवहार के रूप में ही लेकर पूरा करने के लिए तीन बातों पर जोर दिया गया—एक यह कि अपने हाथ की कमाई खाओ (कृत कमाई), दूसरे यह कि पारिवारिक (गृहस्थ) जीवन बिताओ और तीसरे यह कि दान-पुन करो तथा नाम जपो।

इस ढंग से प्रार्थना में ढले जीवन में गुरू गोविंद सिंह ने ताकत डालने के लिए भगवान शिव से यह वर मांगा कि वह और उनके चेले शुभ कर्मन से कभी न टरें। क्योंकि शुभ कर्म की पहचान हो नहीं सकती (कोई भी अपने आपको बुरे कर्म वाला समझता नहीं) इसलिए प्रार्थनारूपी जीवन के साथ-साथ गुरू नानक के वह शब्द काम आ सकते हैं जिसमे उन्होंने कहा था, अपने प्रभु को सम्बोधित करते हुए, कि हम तो नीच कर्मों के मालिक हैं और इन नीच कर्मों का बोझा लेकर फिर भी आप के चरणों में आए हैं, हो सके तो हमें शरण दी जाए।

कहो नानक हम नीच कर्मा, शरण परे की राखो शरणा।

———

The Bible, Sacred Scripture of the Christians

— Sri E. I. L. Jackson

The word 'Bible' comes from a Greek word meaning 'books'. Conforming to this connotation, the **Holy Bible** consists of two separate collections of books called the **Old Testament** and the **New Testament.**

There is virtually no difference between the **Hebrew Old Testament,** the sacred scripture of the Jews, and the **Christian Old Testament,** except that the books in the latter have been arranged in a slightly different order and subdivided into 39 books as against 24 in the former.

The first five books of the **Old Testament** called the **Torah** or the **Penteuth** are known as the **Books of Moses,** the law-giver. **Genesis,** the first book which tells the beautiful story of creation as an act of one God, the story of Adam and Eve, and the story of other events goes streaking through thousands of years till it comes to the life of one man Abraham and his family. The rest of the book starting some time in the 1900s B.C. covers no more than 200 years.

The **Torah** passed orally from generation to generation for thousands of years before it was put down in writing in the Hebrew language during the years 1300 and 400 B.C.

After **Torah** are the historical books of Joshua, Judges, Samuel and Kings, the prophetic books of Isiah, Jeremiah and Ezekiel and a number of other prophets and last of all the books of religious poetry and wisdom literature, and the books of Deniel and some others.

The **Hebrew Old Testament** represents a small remnant of the literature of Israel and the early Jews; how much of the valuable Hebrew and Aramaic literature has been lost can only be surmised.

Biblical scholars had a pleasant surprise when in 1947 the **Dead Sea Scrolls** were found near Jericho, among which were

found copies of some Biblical books (e. g., Isiah) and some other works not known till then. Research, inquiries and investigations have been going on for years. There is no knowing what new findings may throw further light on the Old Testament as a historical record of God's continuous dialogue with man.

In a limited sense the Old Testament was God's covenant with the Jews. In a more meaningful sense it is an indispensable prelude to the New Testament which is His covenant with the human race in terms of the radical teachings of Jesus. As the Lord's Prayer given by Jesus himself to his followers, implores, "Thy kingdom come, Thy will be done on earth as it is in Heaven", what Jesus intended was a restoration of the whole world to its original state of harmony with the Divine will.

Jesus himself wrote no book. But the facts of his life, his ministry and his teachings are immortal and were meant to be so.

The New Testament consists of 37 books organised into four sections, *viz.* :

(1) The four Gospels (good news) of Sts. Matthew, Mark, Luke and John;

(2) The Acts of the Apostles;

(3) 21 Epistles or letters of instruction and admonition—14 of St. Paul and 7 by other saints; and

(4) The Apoclypse or the Book of Revelations.

The Gospels of Matthew, Mark and Luke are called 'synoptic' which means, "see together". These Gospels tell the life story of Jesus and describe his teachings through sayings, parables etc. The Gospel of John records His teachings in terms of long statements. Scholars believe that :

(i) the Gospel of St. Matthew was first written in the Palestinian vernacular around the year 65 A. D. shortly whereafter it was translated into Greek,

(ii) the Gospel of Mark was written between the years 66-67 A. D.,

(iii) the Gospel of St. Luke was written just before or after 70 A. D., and

(iv) the Gospel of John was written in 96 A. D.

The Acts of the Apostles is a historical record of the early Christian Church. The word 'Church' in that sense means the community of believers in Jesus and his teachings.

A good many of the epistles were written before the four Gospels during the period from 52 A.D. onwards. The other epistles were written later.

The Book of Revelations was written in the year 95 A.D.

The first generation of the Christians had no scriptures other than the Hebrew Old Testament. The Church felt the need for a written record of the Christian beliefs and faith. This led to the composition of the New Testament.

Only hand-written manuscripts of the Bible were in use till its translated version was first published by Gutenburg in Germany between the years 1452-56.

There are certain versons of the Bible which deserve mention. At the command of King James of England & Scotland fifty of the ablest scholars of England toiled from 1604 to 1611, in which year they brought out what is known as the Authorised King James' Version of the Chruch of England.

On the Roman Catholic side is the Duoay version of which the New Testament was published in 1582 and the Old Testament in 1609. Later, in 1966 came out the Jerusalem Bible which is a magnificient tribute to the excellence of Catholic scholarship.

———

Zoroastrianism and the Zend-Avesta

— Km. Zarine Viccajee

Zarathustra was born in the hallowed abode of Poumshaspa of the family of Spitamas in the reign of King Vistaspa of the Kianion Period of civilisation in ancient Iran or Persia as it was then called. The place and date of his birth is not exactly known but historians tend to place it at around a little over 1000 B. C. in Eastern Persia.

On Zarathustra's shoulders fell the divine task of spreading new faith among the Parsis of the age and the religion he propounded was named after him as Zoroastrianism.

The Gathas, or the holy songs, of Zarathustra give us the actual facts of the life of the Prophet. The later Avestan and Pahlavi works tell us of his career as it was reflected in the thoughts and ideas of their composers.

Zarathustra, athirst for divine wisdom, left the company of men and repaired to the mountains in search of 'Ahura Mazda' or God. It is here that the divine truth is revealed to him, inspiring thoughts came to him in a flash and he is made aware of the presence of God around him and within him. Zarathustra believed in an omnipresent, omnipotent God. Zoroastrianism is the oldest monotheistic religion in the world based on the principles of हुमत: हुक्त हुवरस्त or good thoughts, good words and good deeds.

While Zarathustra wandered and fasted in the mountains learning the holy songs of divine faith he wondered how he could make the people to whom he preached the religion, understand the concept of a formless (निराकार) God. And it is said, the God presented himself symbolically to him, saying that he was like a burning flame—a fire–and all who come within his fold would be purified as are all objects that are put into fire. It is thus that a holy flame burns in every Agiary or temple as a symbol of God who absorbs everything impure and renders it back purified. The Parsis certainly do not worship fire, as is

commonly believed, but they worship God through fire—fire being the symbol.

The sacred literature, produced by efforts of the Prophet and his disciples as well as its language are generally designated Avesta or Zend-Avesta However, the word Avesta was found only in the Pahlavi texts and we do not know the name by which Zarathustra called his holy writings. Avesta is probably derived from the verbal stem 'vid' or 'to know', thus it signifies knowledge or wisdom.

The Pahlavi language came into existence after the extinction of the Avestan tongue. It designates the original Zoroastrian text as Avesta u Zend—the word Zend meaning 'explanation'. Hence the expression is generally taken to represent the original Avestan text as written in approximately 1000 B. C. together with the commentary upon it in Pahlavi. Later the term Zend-Avesta became more popular both as the name of the Zoroastrian scriptures and their language.

However, the earliest written documents of Iran, which contained the compositions of Zarathustra and his contemporaries, perished in the 3rd century B. C. and there is no trace left to show the particular script used by the Prophet. The Avestan texts known to us are written in characters derived from Pahlavi, a language which came in vogue in Iran 1,500 years after Zoroastra. The writing in the extant original reads from right to left and represents a Semitic alphabet.

The Pahlavi Dinkard gives a list of the contents of the original holy books and they are estimated to consist of 21 volumes containing about 3,45,700 words of written text. Pliny the Elder informs that Zarathustra composed 20,00,000 verses and the Zoroastrian works were copied on 12,000 cowhides.

Two arch type copies were prepared of these sacred texts at the command of King Vistaspa and deposited in the libraries at Dish-i-Ripisth and Ganj-i-Shapigan. But when Alexander

[शेष पृष्ठ १५४ पर]

बौद्ध धर्म—त्रिपिटक का विकास एवं लिपिकरण

— श्री लक्ष्मी नारायण कुरील

भारतीय धर्मों के इतिहास में बौद्ध धर्म का स्थान अद्वितीय है। इसी प्रकार भारतीय धर्म ग्रंथों में **त्रिपिटक** का स्थान भी अत्यंत प्रतिष्ठित है। इसका शाब्दिक अर्थ है–तीन पिटारियाँ। ऐसा मानना है कि पहले बुद्ध वचनों को एकत्र करके पिटारियों में रखा जाता होगा और वर्तमान में उपलब्ध तीन पिटकों के लिये पृथक-पृथक तीन पिटारियाँ प्रयोग में लाई जाती होंगी, अतः कालांतर में ये संग्रह ही **त्रिपिटक** के नाम से जाने गये। ये तीन पिटक हैं—**सुत्त पिटक** (सूत्र पिटक), **विनय पिटक**, और **अभिधम्म पिटक** (अभि-धर्म पिटक)।

ज्ञान (बोधि) प्राप्ति (ई. पू. ५२८) से लेकर महा-परिनिर्वाण (ई. पू. ४८३) तक महाकारूणिक भगवान बुद्ध ने संसार के प्राणियों के कल्याण के लिए एक सुदृढ़ भिक्षु संघ की स्थापना की, जो आज भी बौद्ध-धर्म का नीति-निर्देशक संगठन है। भगवान बुद्ध के उपदेश मौखिक ही होते थे, जिन्हें उनके शिष्य याद कर लेते थे। ये उपदेश दो प्रकार के होते थे :—

(१) साधारण धर्म और दर्शन के विषय में, जिसे पालि में 'धम्म' कहा गया है; और

(२) भिक्षु-भिक्षुणियों के नियम, जिसे 'विनय' कहा गया।

उपरोक्त मौखिक उपदेशों के संकलन के लिए समय-समय पर संगीतियों का आयोजन किया गया जिनका बौद्ध धर्म के इतिहास में विशेष महत्व है। वास्तव में बौद्ध धर्म के विकास का ज्ञान इन्हीं संगीतियों के कार्य-कलापों से होता है। भगवान बुद्ध ने **महापरिनिब्बान सुत्त** में कहा है :—

यो धम्मं पस्सति सो मम् पस्सति।
यो मम् पस्सति सो धम्मं पस्सति॥

[पृष्ठ १५३ का शेष]

invaded Persia, one of these copies perished in flames when the royal palace of Persepolis was burnt and the other was taken by the conquerors to Greece and later translated into Greek.

The scriptures were further destroyed when Persia was invaded by the Muslims and the scriptures which have eventually come down to our times are very scanty by comparison.

अर्थात् जो धर्म को देखता है, वह मुझे देखता है। जो मुझे देखता है, वह धर्म को देखता है।

प्रथम संगीति भगवान बुद्ध के महापरिनिर्वाण के तीन माह पश्चात्, ई. पू. ४८३ अथवा ४८७ ई पू. में, सम्राट अजातशत्रु के काल में राजगृह (राजगिर) के वैभार पर्वत पर स्थित सप्तपर्णी गुफा में हुई और "धम्म" तथा "विनय" का संगायन हुआ। इसमें ५०० अर्हत् सम्मिलित हुए जिनमें भिक्षु संघ के प्रधान, **महाकश्यप** अध्यक्ष थे तथा भगवान बुद्ध के चिर-अनुचर आनंद धम्म के विषय में एवं बुद्ध प्रशंसित उपालि विनय के विषय में प्रश्नों के उत्तर देते थे।

सत्य, अहिंसा, अचौर्य, ब्रह्मचर्य आदि सुकर्मों को पालि में शील कहते हैं, और स्कन्ध (रूप आदि), आयतन (रूप-चक्षु, चक्षुविज्ञान आदि) व धातु (पृथ्वी, जल आदि) के सूक्ष्म दार्शनिक विचार को प्रज्ञा, दृष्टि या दर्शन कहते हैं। बुद्ध वचनों में शील और प्रज्ञा पर पूरा बल दिया गया है। पालि में धर्म का पर्याय "सुत्त" (सूक्त, सूत्र) या "सुतन्त" भी है। प्रथम संगीति में स्थविर भिक्षुओं ने धर्म एवं विनय का संकलन किया। प्रश्नोत्तरी का अध्ययन-अध्यापन का भार लेकर ये भिक्षुगण क्रमशः "धम्म-धर", "सुत्तधर" या "सुतंतिक" (सौतांत्रिक), और "विनयधर" कहलाये। सूत्रों में दर्शन संबंधी संक्षिप्त अंश जिन्हें "मातिका" (मात्रिका) कहते थे, के अध्ययन-अध्यापन का भार ग्रहण करने वाले "मातिका धर" कहलाये। मातिकाओं को समझाने के लिए जब उनका विस्तार किया गया, या व्याख्या की गई, तब इन्हीं का नाम "अभिधम्म" (अभि धर्म = धर्म में से) हुआ और इनके रक्षक "अभिधाम्मिक" (अभि-धार्मिक) हुए।

प्रथम संगीति के सौ वर्ष बाद भिक्षुओं को विनय-विरुद्ध आचरण से रोकने के लिये कालाशोक के राज्यकाल में, ई. पू. ३८३ / ३८७ में, वैशाली में द्वितीय संगीति का आयोजन हुआ। इसमें ७०० अर्हत्-भिक्षु सम्मिलित हुए थे और इनके अध्यक्ष थे महास्थविर रेवत। इसमें विवादित बिन्दुओं पर चर्चा हुई और अंत में फिर भिक्षु संघ ने अपनी राय दी, धर्म एवं विनय का संगायन किया। कितने ही भिक्षु इस संगीति से सहमत न हुए और उन्होंने अपने महासंघ का कौशाम्बी में पृथक सम्मेलन किया तथा अपने मतानुसार "धर्म" और "विनय" का संग्रह किया। संघ के स्थविरों (वृद्ध भिक्षुओं) का अनुगमन करने वाला होने से पहला समुदाय (निकाय) **आर्य-स्थविर** या

स्थविरवाद के नाम से प्रसिद्ध हुआ और दूसरा **महासांघिक** के नाम से। इन्हीं दो समुदायो से अगले सवा सौ वर्षों में १८ निकाय हुए :—स्थविरवाद से वज्जिपुत्रक, महाशासक, धर्मगुप्तिक, सौतांत्रिक, सर्वास्तिवाद, काश्यपीय, संक्रातिक, सम्मिनीय, पाण्णागरिक, भद्रयानिक एवं धर्मोत्तरीय, तथा महासांघिक से गोकुलिक, एक—व्यवहारिक, प्रज्ञप्तिवाद (= लोकोत्तरवाद), बाहुलिक एवं चैत्यवाद।

उपरोक्त १८ निकायों में मुख्य मतभेद विनय और अभिधर्म की बातों के संबंध में था। अनेक निकाय आर्य-स्थविरों की तरह बुद्ध को मनुष्य न मानकर उन्हें लोकोत्तर मानने लगे। वे बुद्ध में अद्भुत और दिव्य शक्तियों का होना मानते थे। कोई-कोई निकाय बुद्ध के जन्म एवं निर्वाण को दिखावा मात्र समझते थे। इन्हीं भिन्न-भिन्न मान्यताओं के अनुसार उनके सूत्र एवं विनय में भी अंतर हो गया। बुद्ध की अलौकिक लीलाओं के समर्थन में नये-नये सूत्रों की रचना हुई।

बुद्ध परिनिर्वाण के प्रायः सवा दो सौ वर्षों बाद सम्राट अशोक ने बौद्ध धर्म ग्रहण किया। उनके गुरू मोग्गलिपुत्त तिस्स (मौद्गलि-पुत्र तिष्य) उस समय आर्य-स्थविरों के संघ-स्थविर थे। इस युग में बौद्ध धर्म को राज्याश्रय प्राप्त होने के कारण दूसरे धर्म के लोग भी अपने को बौद्ध मतावलम्बी बता कर राज्य से प्राप्त सुविधाओं से लाभ उठाने लगे तथा बौद्ध संघ के भीतर आकर अपने मत-मतान्तरों को भी बुद्ध सम्मत बताने लगे। अतः बुद्ध के वास्तविक मन्तव्य को जानने में कठिनाई होने लगी। बौद्ध संघ अनेक सम्प्रदायों में विभक्त हो गया। अतः "थेरवाद" या "विभज्यवाद" को बुद्ध का वास्तविक मन्तव्य निश्चित करने के लिए पाटलिपुत्र में अशोक के बनवाये अशोकाराम विहार में ई. पू. २४८ अथवा २५१ में भिक्षु संघ के द्वारा चुने गये १००० भिक्षुओं का सम्मेलन किया गया जिन्होंने मिलकर सभी विवादग्रस्त विषयों पर निर्णय किया तथा धर्म और विनय का संगायन किया। यही सम्मेलन **तृतीय संगीति** के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसके अध्यक्ष मोग्गलिपुत्त तिस्स थे।

इसी समय आर्य स्थविरों से निकले सर्वास्तिवाद निकाय ने नालन्दा में पृथक संगीति की। नालन्दा जो समय-समय पर बुद्ध का निवास स्थान होने से पुनीत स्थानों में गिना जाता था, इसी समय से सर्वास्तिवादियों का मुख्य स्थान बन गया।

तृतीय संगीति की समाप्ति के बाद बौद्ध धर्म के व्यापक प्रसार के लिए मोग्गलिपुत्त तिस्स ने सम्राट अशोक की सहायता से भिन्न-भिन्न देशों में धर्म प्रचारक भेजे। यह पहला अवसर था कि जब एक भारतीय धर्म संगठित रूप में भारत की सीमा से बाहर प्रचारित हुआ। ये प्रचारक पश्चिम में यवन राजाओं के राज्यों (ग्रीस, मिस्र, सिरिया आदि) में गये, और उत्तर में मध्य एशिया तथा दक्षिण में श्रीलंका व म्यामार (बर्मा) में भी पहुचे। लंका में अशोक के पुत्र तथा मोग्गलिपुत्त तिस्स के शिष्य भिक्षु महेन्द्र और उनकी सहोदरा संघमित्रा गई। लंका के राजा देवानां पिय तिस्स बौद्ध धर्म में दीक्षित हुए। कुछ ही दिनों में सारी जनता बौद्ध हो गई। भिक्षु महेन्द्र एवं संघमित्रा अपने साथ **त्रिपिटक** के रूप में बुद्ध वचन की परम्परा ले गये थे। अभी तक सम्पूर्ण बुद्ध वचन की मौखिक परम्परा ही चलती रही। स्मरण शक्ति के ह्रास होने के भय से ई.पू. २९ में इन्हें लिपिबद्ध करने की आवश्यकता समझी गई। उस समय सिंहल द्वीप (श्रीलंका) के शासक सम्राट बट्टगामनि थे। लिपिकरण के साथ-साथ अट्ठ-कथायें लिखी गईं। इस प्रक्रिया को कुछ विद्वान **चतुर्थ संगीति** की संज्ञा देते हैं।

कुछ विद्वान चतुर्थ संगीति को सम्राट कनिष्क के कार्यकाल में कश्मीर के कुन्डरु वन में आयोजित की गई मानते हैं। इसमें अध्यक्ष वसुमित्र एवं उपाध्यक्ष अश्वघोष थे, जिसमें **विभास शास्त्र** नामक टीका का संकलन हुआ। इसी संगीति में बौद्ध धर्म महायान एवं हीनयान में विभाजित हुआ। इसके अतिरिक्त सर्वास्तिवाद निकाय की स्थापना हुई क्योंकि सम्राट कनिष्क इसी के अनुयायी थे।

१८७१ ई. में सम्राट मिन्डोन मिन के राज्यकाल में थेरवाद की परम्परा के अनुसार संगमरमर की पट्टिकाओं पर सम्पूर्ण बुद्ध वचन उत्तीर्ण कराकर एक स्थान पर गड़वा दिये गये ताकि वे चिरस्थायी रहें। इसे पंचम संगीति माना जाता है।

छठी संगीति १९५४-५६ ई. में बर्मा में सम्पन्न हुई जिसमें २५००वीं बुद्ध जयन्ती के अवसर पर समस्त बुद्ध वचनों का संगायन हुआ।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि पहली संगीति में धम्मधरों, विनयधरों एवं मातिकाधरों का विकास हुआ। दूसरी में संघ का दो प्रमुख समुदायों अर्थात् स्थविरवाद एवं महासांघिक में विभाजन हो गया। बौद्ध धर्म के विकास की

दृष्टि से **तृतीय संगीति** की सबसे बड़ी उपलब्धि **अभिधम्म पिटक** का संकलन था। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि प्रथम संगीति में समस्त बुद्ध वचनों को दो भागों अर्थात् (१) **विनय पिटक** एवं (२) **धम्म पिटक** में वर्गीकृत किया गया था। तृतीय संगीति में **धम्म-पिटक** दो भागों में विभाजित कर दिया गया। **अभिधम्म-पिटक** के अंतर्गत उच्च दार्शनिक विचारों को रखा गया जबकि शेष सभी बुद्ध वचनों को **सुत्त-पिटक** में संकलित किया गया। इसमें भिक्षु संघ के एकीकरण का प्रयास किया गया। तृतीय संगीति का ही परिणाम था कि पहली बार एक भारतीय धर्म संगठित रूप से देश से बाहर प्रचारित हुआ। चतुर्थ संगीति की विशेष उल्लेखनीय उपलब्धि यह रही कि श्रीलंका में **त्रिपिटक** को लिपिबद्ध किया गया तथा भारत में इसी समय कनिष्क के काल में **त्रिपिटक** का भाष्य लिखकर सुबोध एवं सरल बनाया गया एवं समस्त बुद्ध वचनों को संस्कृत में लिपिबद्ध किया गया। इसी काल में ताम्र पत्रों पर बुद्ध वचनों को खुदवाकर पत्थर की पेटियों में सुरक्षित किया गया, "सर्वास्ति-वाद-निकाय" की स्थापना हुई, बुद्ध प्रतिमाओं का निर्माण प्रारंभ हुआ तथा भिक्षुगण विदेशों में धर्म प्रचार के लिए गये। इस प्रकार त्रिपिटकों के विकास, संरचना एवं लिपिकरण में प्रथम चार संगीतियों का विशेष योगदान रहा है।

[उपरोक्त लेख में काल निर्देश तथागत बुद्ध के परिनिर्वाण की कैन्टन अनुश्रुति के अनुसार निर्धारित तिथि ४८३ ईस्वी पूर्व के अनुसार है। बुद्ध के परिनिर्वाण की अन्यथा परम्परागत तिथि ५४४ वर्ष ईसा पूर्व है।–संपादक]

हिन्दू धर्म ग्रन्थ — वाचिक परम्परा और पुस्तक-लेखन

— डॉ० शैल नाथ चतुर्वेदी

हिन्दू धार्मिक परम्परा में वाचिक पद्धति की बड़ी महत्ता है। वैदिक अनुष्ठानों के प्रसंग में तो लिखित पाठक की घोर निन्दा की गयी है। **याज्ञवल्क्य शिक्षा** में कहा गया है—

गीती शीघ्री शिरःकम्पी तथा लिखित पाठकः।
अनर्थज्ञोऽल्पकण्ठश्च षडेते पाठकाधमाः॥

अर्थात् गाकर, जल्दी-जल्दी, शिर हिलाते हुए, लिखित के आधार पर, बिना अर्थ समझे हुए और धीमे स्वर में पाठ करने वाले 'अधम पाठक' हैं। लिखित पाठक की निन्दा का प्रत्यक्ष कारण बड़ा स्पष्ट है। वैदिक अनुष्ठानों में शुद्ध उच्चारण पर अत्यधिक बल दिया जाता था। यह कहा गया है कि अशुद्ध पाठ से यजमान का नाश हो जाता है। शुद्ध उच्चारण केवल मौखिक रीति से ही सीखा जा सकता था।

इस वैदिक पद्धति ने लिखित ग्रन्थों के विरुद्ध ऐसे वातावरण का निर्माण कर दिया कि वैदिक काल के बाद भी उनका निषेध किया जाता रहा। वृद्ध गौतम ने उन्हें भर्त्सना के योग्य बताया है जो वेद की निन्दा करते हैं, वेद लिखते हैं और वेद बेचते हैं। अपरार्क ने चतुर्विंशति मत को उद्धृत करते हुए वेद, वेदांग, स्मृतियों, इतिहास, पुराण, पञ्चरात्र, गाथा व नीतिशास्त्र का विक्रय करने वालों के लिये प्रायश्चित की व्यवस्था की है। नारद के अनुसार विद्या में अवरोध डालने वाले छः अवरोधों में से एक पुस्तक है—

द्यूतं पुस्तकशुश्रूषा नाटकासक्तिरेव च।
स्त्रियस्तंद्री च निद्रा च विद्याविघ्नकराणि षट्॥

प्राचीन शिक्षा पद्धति में मौखिक परम्परा का आरम्भ निश्चय ही वैदिक काल से हुआ और वह क्रमशः सुदृढ़ होती गयी। आज भी वह संस्कृत के, विशेष रूप से वैदिक, अध्ययन में जीवित है। वैदिक परम्परा में वाचिक विधि की महत्ता का कारण ऊपर बताया जा चुका है। उसके अतिरिक्त अन्य कारणों से भी वाचिक परम्परा को महत्त्व दिया जाता रहा। प्राचीन काल में पुस्तक-लेखन अत्यंत दुष्कर कार्य था। वह व्ययसाध्य भी था। यह भी सत्य है कि गुरू से अध्ययन करने पर जिस गहनता से ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है वह पुस्तक के माध्यम से कदापि सम्भव नहीं है। सम्भवतः इसी कारण नारद का

मत है कि जो गुरू से नहीं, वरन् पुस्तक के आधार पर अध्ययन करता है, वह सभा में शोभा नहीं पाता। यह कल्पना भी की जा सकती है कि विशेषज्ञों में विद्या पर एकाधिकार बनाये रखने और गुरू-शिष्य परम्परा को सुरक्षित रखने के लिये भी वाचिक पद्धति को विशेष महत्त्व दिया जाता रहा होगा।

वाचिक परम्परा का एक सुपरिणाम यह अवश्य हुआ कि प्राचीन वाङ्मय आज तक सुरक्षित रह सका। लिखित सामग्री नाशवान है, अतः हिन्दू धार्मिक साहित्य को हजारों वर्ष तक सुरक्षित रखने का श्रेय इसी परम्परा को देना होगा। वाचिक परम्परा द्वारा अनरक्षित होने के कारण अनेक महत्त्वपूर्ण बौद्ध धार्मिक ग्रन्थ तिब्बती या चीनी में अनूदित पुस्तकों से ही ज्ञात हो सके। वाचिक परम्परा के अभाव में हिन्दू धार्मिक साहित्य कब का कालकवलित हो गया होता।

वाचिक परम्परा की श्रेष्ठता के कारण यह नहीं कहा जा सकता कि धार्मिक ग्रन्थ लिखे ही नहीं जाते थे। लिखित पाठक को अधम समझने व लिखित धार्मिक ग्रन्थों का विक्रय करने का निषेध स्वयं इसकी पुष्टि करते हैं। वस्तुतः ग्रन्थों को लिपिबद्ध करना एक अनिवार्यता भी थी। किसी विषय की विशद रचना जिसमें तारतम्य हो, पूर्वापर सम्बन्ध हो, क्या मात्र स्मृति के आधार पर की जा सकती थी ? शास्त्रीय विषयों में जहाँ पूर्वकालिक मतों की समीक्षा या उनका खण्डन-मण्डन किया जाता है, स्मृति की सहायता से ग्रन्थ-रचना असम्भव है।

ध्यान देने की बात है कि विशाल ब्राह्मण साहित्य की रचना वैदिक संहिताओं की व्याख्या के लिये की गयी थी। षड् वेदाङ्गों का विकास वेदमंत्रों के सम्यक् उच्चारण, वेदार्थ के ज्ञान, वेद के स्वरूप से परिचय हेतु तथा याज्ञिक अनुष्ठान विधिपूर्वक करने के उद्देश्य से हुआ था। क्या लिखित ग्रन्थों की अनुपस्थिति में मात्र स्मृति के आधार पर इस विपुल व्याख्यात्मक एवं विवेचनात्मक साहित्य की रचना सम्भव थीं ? लिपिबद्ध पुस्तक की आवश्यकता किसी पाठ पर विवाद होने या विस्मृत होने पर भी पड़ती होगी। एकाधिक शती पूर्व के प्रमाणों के आधार पर यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि शिक्षा में मौखिक परम्परा का चलन होते हुए भी संस्कृत के अध्यापक लिपिबद्ध पुस्तकें अपने उपयोग के लिये रखते थे। पुराणों में पुस्तक लिखवा कर दान करने का निर्देश उक्त तथ्यों के संदर्भ में विशेषरूप से उल्लेख्य है। वैदिक युग में लेखन-कला के प्रसंग में प्रसिद्ध लिपिशास्त्री बूलर का यह कथन ध्यातव्य है

कि "इस अनुमान को अस्वीकार करने का कोई आधार नहीं है कि वैदिक काल में भी पुस्तकें मौखिक शिक्षा तथा अन्य अवसरों पर उपयोग में लायी जाती थीं।" इसके अतिरिक्त यह तथ्य भी महत्त्वपूर्ण है कि देवी सरस्वती और ब्रह्मा के ध्यानमंत्रों में पुस्तक का उल्लेख उनके अस्तित्व और महत्त्व का निर्विवाद प्रमाण है।

महाभारत के आदिपर्व में न केवल पुस्तक-लेखन की परम्परा की पुष्टि की गयी है अपितु इस प्रक्रिया का भी उल्लेख है। महाभारत की रचना के प्रसंग में बताया गया है कि एक बार हिमालय की गुफा में कृष्णद्वैपायन व्यास शान्तचित्त होकर विराजमान थे। उन्होंने ध्यानयोग में स्थित होकर महाभारत-इतिहास के स्वरूप पर विचार किया और ज्ञानदृष्टि से संसार के आदि से अन्त तक सब कुछ प्रत्यक्ष की भांति देख लिया। उन्हें सृष्टि के आरम्भ से उसकी विकास-प्रक्रिया का ज्ञान हुआ। फिर उन्होंने प्राकृतिक तत्त्वों, विभिन्न प्राणियों और राजकुलों का उद्भव देखा। व्यास ऋषि ने अपने ज्ञान चक्षुओं से विविध शास्त्रों का परिचय प्राप्त किया। इन सबको संगुम्फित कर उन्होंने **महाभारत** की रचना की। फिर उनके मन में विचार आया कि शिष्यों को इसका अध्ययन कैसे कराऊँ? इसी समय ब्रह्मा का आगमन हुआ। उन्हें देखकर महर्षि अत्यन्त प्रसन्न हुए और बोले—"मैंने एक श्रेष्ठ काव्य की रचना की है। इसमें वेदों तथा सभी शास्त्रों का व इतिहास-पुराण का सारतत्त्व निरूपित है। इसमें संसार के सभी विषयों का समन्वय किया गया है। मेरी चिन्ता यह है कि इस ग्रन्थ को लिखने वाला पृथ्वी पर कोई नहीं है।" इस पर ब्रह्मा ने उन्हें गणेश का नाम सुझाया। ध्यान करते ही गणेश उपस्थित हुए और व्यास ने उन्हें **महाभारत** लिखाया।

महाभारत के लेखन की यह पौराणिक गाथा किसी भी गम्भीर रचना के निर्माण की प्रक्रिया का निदर्शन करती है। रचनाकार दृष्टा है, वह अपने मन-बुद्धि से कृति का साक्षात्कार करता है और तदनन्तर तमाम दृश्यों-सूत्रों का सम्यक् गुम्फन कर रचना को रूप प्रदान करता है। अन्त में वह लिखित रूप धारण करती है। भारत में वाचिक परम्परा की महत्ता निःसंदेह सर्वमान्य थी किन्तु लिपिबद्ध पुस्तकों का अपना स्थान और उपयोग था।

——

जैन आगम ग्रन्थों का लिपिकरण

— डॉ० सुदर्शन लाल जैन

जैन-परम्परा में भगवान् महावीर (ई. पू. ५२७ वर्ष) की अनक्षरात्मक वाणी (दिव्यध्वनि-रूप उपदेश) को ज्ञान रूप से जानकर उनके प्रमुख शिष्य गणधरों ने जो शब्दात्मक ग्रन्थ बनाए उन्हें **श्रुत** कहा जाता है। इन्हें अङ्ग, अङ्गप्रविष्ट, गणिपिटक, वेद, आगम, द्वादशाङ्ग आदि नामों से भी जाना जाता है। इस तरह से ग्रन्थ अर्थरूप में भगवान् महावीर से पूर्व जैन श्रमण-परम्परा में कुछ ऐसी रचनायें मानी गई हैं जिन्हें 'पूर्व' कहा जाता है। श्रुत के बारहवें अंग दृष्टिवाद में ऐसे १४ पूर्वों का उल्लेख मिलता है जिनमें महावीर से पूर्व की अनेक विचारधाराओं का संकलन था। इन पूर्वों में न केवल तत्कालीन धार्मिक, दार्शनिक एवं नैतिक विचारों का संकलन था अपितु इनके भीतर नाना कलाओं, ज्योतिष, फलित ज्योतिष, आयुर्वेद, शकुन-शास्त्र, मन्त्र, तन्त्र आदि विषयों का भी समावेश था। वस्तुतः ये प्राचीनकाल के ज्ञानकोष थे परन्तु दुर्भाग्यवश यह पूर्व साहित्य सुरक्षित न रह सका। परवर्ती साहित्य में इन पूर्वों का तथा इनके विषयों का यत्र-तत्र उल्लेख मिलता है। इन १४ पूर्वों के ज्ञाता अंतिम (पांचवे) श्रुतकेवली भद्रबाहु थे। क्रमशः इन पूर्वों का ज्ञान लुप्त होता गया। **षट्खण्डागम** के वेदना खण्ड में आगत 'नमो दसपुव्वियाणं' एवं 'नमो चउद्दसपुव्वियाणं' सूत्रों की व्याख्या करते हुए वीर-सेनाचार्य ने बतलाया है कि प्रारम्भ के १० पूर्वों का ज्ञान हो जाने पर कुछ मुनियों को नाना महाविद्याओं की प्राप्ति हो जाने से उन्हें सांसारिक लोभ व मोह उत्पन्न होता था। जो इस व्यामोह में नहीं पड़ता था वह १४ पूर्वों का ज्ञाता होकर पूर्ण श्रुतज्ञानी हो जाता था। अंतिम ४ पूर्वों में विविध कलाओं, मन्त्र, तन्त्र, इन्द्रजाल आदि का प्ररूपण था जिनका प्रयोग संयमी जैन मुनि को निषिद्ध था। अतः प्रथमतः इन ४ पूर्वों का लोप हुआ। शेष १० पूर्वों की बातें अन्य ११ अंग ग्रन्थों में समाहित थीं, फलस्वरूप इन पूर्वों के पठन-पाठन में समयशक्ति को लगाना आवश्यक नहीं समझा गया और धीरे-धीरे इन १० पूर्वों का ज्ञान भी लुप्त हो गया। दिगम्बर परम्परानुसार गुणधराचार्य (ई. पू. प्रथम शताब्दी) को पञ्चम पूर्वगत **पेज्जदोसपाहुड** तथा **महाकम्मपयडिपाहुड** का ज्ञान प्राप्त था जिसके आधार पर उन्होंने **पेज्जदोसपाहुड (कसायपाहुड)** ग्रन्थ की रचना १८० गाथाओं में की। इन्हें दिगम्बर परम्परा

में लिखित **श्रुत** ग्रन्थ का प्रथम श्रुतकार माना जाता है। इन्हीं के कुछ पश्चाद्वर्ती धरसेनाचार्य (ई. सन् ७३ के आसपास) को द्वितीय पूर्वांगत (अग्रायणी पूर्व) कम्मपयडिपाहुड अधिकार का ज्ञान प्राप्त था जिसे उन्होंने श्रुत की रक्षार्थ आचार्य पुष्पदन्त (ई. सन् ५०-८०) और भूतबलि (ई. सन् ८७ के आस-पास) को दिया। आचार्य पुष्पदन्त (प्रारम्भिक १७७ सूत्र) और भूतबलि (बाद के ६००० सूत्र) ने **छक्खण्डागम (षट्खण्डागम)** या **सत्कर्मप्राभृत** ग्रन्थ की रचना की। जिस दिन यह ग्रन्थ पूरा हुआ उस दिन (ज्येष्ठा शुक्ला पंचमी) को **श्रुतपंचमी** के रूप में मान्यता मिली।

श्रवण-परम्परा से गणधरप्रणीत 'श्रुत' की परम्परा वी. नि. के ६२ वर्ष बाद तक गौतम (इन्द्रभूति), सुधर्मा और जम्बू स्वामी तक अखण्डरूप से चली। ये तीनों केवलज्ञानी थे और इन्हें दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्परायें अपना धर्मगुरू स्वीकार करती हैं। अन्तर इतना है कि दिगम्बर परम्परा गौतम को और श्वेताम्बर परम्परा जम्बू स्वामी को विशेष महत्त्व देती है। जम्बू स्वामी के बाद दिगम्बर और श्वेताम्बर गुर्वावलि में अन्तर पड़ गया परन्तु उनमें पाँचवे श्रुतकेवली भद्रबाहु प्रथम (वी.नि.सं. १०० या १६२) को दोनों अपना गुरू मानते हैं। जैसे—

(क) **दिगम्बर गुर्वावलि** (पट्टावली के अनुसार)—जम्बू, विष्णु, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्धन, और भद्रबाहु।

(ख) **श्वेताम्बर गुर्वावलि**—जम्बू, प्रभव, शय्यंभव, यशोभद्र, संभूतिविजय और भद्रबाहु (चतुर्दशपूर्वी)। यहाँ यशोभद्र के शिष्य थे संभूतिविजय और भद्रबाहु। संभूतिविजय के शिष्य थे स्थूलभद्र जिनसे आगे की श्वेताम्बर गुर्वावलि चली और भद्रबाहु की परम्परा में दिगम्बर गुर्वावलि चली।

दिगम्बरों के अनुसार भद्रबाहु के बाद ११ आचार्य क्रमिक ह्रास होते हुए ११ अंग और १० पूर्वों के ज्ञाता हुए। इसके बाद पाँच आचर्य ११ अंगधारी हुए। तदनन्तर कुछ आचार्य १०, ९ और ८ अंगों के धारी हुए। इसी क्रम में भद्रबाहु द्वितीय (वी. नि. ४९२) और उनके शिष्य लोहाचार्य हुए। इसके बाद अंगों या पूर्वों के अंशमात्र के ज्ञाता हुए। लोहाचार्य के बाद संभवतः गुरु-परम्परा निम्न प्रकार रही होगी—

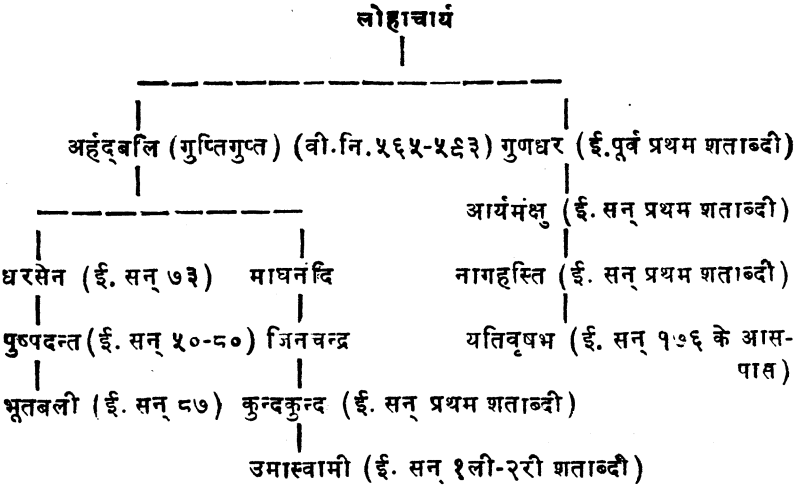

भद्रबाहु प्रथम (वी. नि. १६२ वर्ष) के समय अवन्ति देश में बारह वर्ष का अकाल पड़ा जिसके कारण कुछ आचार्यों में शिथिलाचार आ गया। फलस्वरूप आचार्य स्थूलभद्र (भद्रबाहु प्रथम के शिष्य) के संरक्षण में एक स्वतन्त्र श्वेताम्बर संघ की स्थापना हो गई। भद्रबाहु की संघ व्यवस्था भी अर्हद्बलि (गुप्तिगुप्त) (वी. नि. ५६५-५९३) के काल में समाप्त हो गई और दिगम्बर मूल, नन्दि, वृषभ आदि संघों में विभक्त हो गए। ऐतिहासिक उल्लेखानुसार आचार्य अर्हद्बलि ने पाँच वर्षीय युग प्रतिक्रमण के समय (वी. नि. ५७५) संगठन बनाने के लिए दक्षिणदेशस्थ महिमानगर (महाराष्ट्र प्रदेश का सतारा जिला) में एक वृहद् साधु-सम्मेलन बुलाया जिसमें १०० योजन तक के साधु एकत्रित हुए। इसमें मतैक्य न होने से मूलसंघ बिखर गया। इसी समय पंचम पूर्व के ज्ञाता आचार्य गुणधर (ई. पू. प्रथम शताब्दी) ने **कसायपाहुड** की और ई. सन् प्रथम शताब्दी में द्वितीय पूर्व के ज्ञाता आचार्य धरसेन के शिष्य आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलि ने **षट्खण्डागम** ग्रन्थ की रचना करके श्रुत को लिपिबद्ध किया। इसके बाद **कसायपाहुड** पर यतिवृषभाचार्य ने **चूर्णिसूत्र** तथा **तिलोयपण्णत्ति** ग्रन्थ की रचना की। इसी क्रम में युगसंस्थापक आचार्य कुन्दकुन्द ने **समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय** आदि ग्रन्थ रचे। उमास्वामी का **तत्त्वार्थसूत्र** और वट्केर आचार्य का **मूलाचार** भी इसी समय लिखा गया। इस तरह उपलब्ध दिगम्बर आगम ई. सन् प्रथम शताब्दी के आसपास लिपिबद्ध कर लिए गए। अनन्तर इन्हीं ग्रन्थों के आधार पर अन्य

रचनायें लिखी गईं। इस तरह दिगम्बरों ने सभी १२ अङ्ग, १४ पूर्व और १४ अङ्गबाह्य ग्रन्थों का लोप स्वीकार कर लिया।

श्वेताम्बर मान्यता के अनुसार आगमों के लिपिबद्ध होने के पूर्व चार वाचनाएँ हुईं। भगवान महावीर के निर्वाण (ई. पूर्व ५२७ वर्ष) के लगभग १६० वर्ष बाद (ई. पू. ३६७) चन्द्रगुप्त मौर्य के शासनकाल में मगध में भयङ्कर दुर्भिक्ष पड़ा जिससे बहुत से साधु भद्रबाहु के नेतृत्व में समुद्रतट की ओर प्रस्थान कर गए तथा शेष स्थूलभद्र (स्वर्गगमन वी. नि. २१६ वर्ष बाद) के नेतृत्व में मगध ही में रहे। अकाल के दूर होने पर स्थूलभद्र के नेतृत्व में पाटलिपुत्र में जैन साधुओं का एक सम्मेलन बुलाया गया जिसमें मौखिक परम्परा से चले आ रहे श्रुत को व्यवस्थित करने के लिए ११ अंग-ग्रन्थों का संकलन किया गया। यह प्रथम वाचना थी। बारहवाँ दृष्टिवाद भद्रबाहु को छोड़कर किसी को ज्ञात नहीं था। चतुर्दश पूर्वों के ज्ञाता भद्रबाहु उस समय नेपाल में थे। अतएव पूर्वों के ज्ञानार्थ स्थूलभद्र कुछ साधुओं के साथ आचार्य भद्रबाहु के पास नेपाल गए। वहाँ से स्थूलभद्र को छोड़ शेष सभी वापिस आ गए। स्थूलभद्र भी १० पूर्वों तक निर्बाध ज्ञान प्राप्त करके दोषवशात् शेष ४ पूर्वों के अध्यापन से भद्रबाहु द्वारा मना कर दिए गए। फलतः यहां से पूर्वों के शनैः शनैः लुप्त होने की शुरुआत हो गई। इस वाचना में दृष्टिवाद का संकलन नहीं हो सका।

महावीर निर्वाण के ८२७ या ८४० वर्ष बाद (ई. सन् ३००-३१३) पुनः आए १२ वर्ष के अकाल के बाद आर्य स्कन्दिल के नेतृत्व में आगमों को सुव्यवस्थित रूप देने के लिए मथुरा में दूसरा सम्मेलन हुआ। इसमें जिसे जो याद था उसे **कालिकश्रुत** के रूप में संकलित कर लिया गया। इसे माथुरी वाचना कहते हैं।

नागार्जुन सूरि के नेतृत्व में वलभी (सौराष्ट्र) में एक दूसरा सम्मेलन हुआ। यद्यपि यह सम्मेलन आर्य स्कन्दिल के काल में ही हुआ परन्तु ये दोनों नेता आपस में मिल नहीं सके जिससे आगमों का पाठभेद बना रह गया। इसे प्रथम वलभी वाचना कहते हैं।

महावीर निर्वाण के लगभग ९८० या ९९३ वर्ष बाद (ई. सन् ४५३-४६६) वलभी में ही देवर्धिगणि क्षमाश्रमण के नेतृत्व में चौथा सम्मेलन हुआ। इसे तृतीय सम्मेलन भी कहते हैं। इस समय ४५ आगमों को लिपिबद्ध किया

गया। विविध पाठान्तरों और वाचनाभेदों का समन्वय करके माथुरी वाचना को आधार बनाया गया। जिन पाठों का समन्वय नहीं हो सका उनका 'वायणान्तरे पुण', 'नागार्जुनीयास्तु एवं वदन्ति' इत्यादि रूप में उल्लेख कर दिया गया। दृष्टिवाद न मिलने के कारण उसे व्युच्छिन्न घोषित कर दिया गया। इसे द्वितीय वलभी वाचना एवं अंतिम वाचना भी कहते हैं। उपलब्ध आगम इसी वाचना के परिणाम हैं। इतना अवश्य है कि आगमों में कुछ परिवर्तन इस वाचना के द्वारा लिपिबद्ध होने के बाद भी हुए हैं, ऐसा अन्तः परीक्षण से ज्ञात होता है।

इस विवेचन से निम्न तथ्य प्रकट होते हैं :—

(१) जैन परम्परा में भावश्रुत (ज्ञानात्मक) और द्रव्यश्रुत (वचनात्मक) के भेद से श्रुत दो प्रकार का है। भावश्रुत की अपेक्षा से 'श्रुत' अनादि, अपौरुषेय अथवा महावीरप्रणीत है। द्रव्यश्रुत की अपेक्षा से गणधरप्रणीत है। दिगम्बर आगम ई. सन् की प्रथम-द्वितीय शताब्दी में लिपिबद्ध हो गए थे और श्वेताम्बर आगम १००० वर्षों के अन्तराल के बाद देवर्धिगणि क्षमाश्रमण की वलभी वाचना में लिपिबद्ध किए गए।

(२) मूल भाषा अर्धमागधी (आर्षप्राकृत) थी। श्वेताम्बर आगम इसी भाषा में हैं परन्तु दिगम्बरों के आगम शौरसेनी (जैन शौरसेनी) प्राकृत में है। भाषागत परिवर्तन होने से उनकी अप्रमाणता नहीं मानी गई है क्योंकि जैन धर्म में शब्द की अपेक्षा भावों का प्राधान्य है, वेदों की तरह शब्द का नहीं। यही कारण है कि वेदों की तरह इनकी सुरक्षा पूर्णरूप से शब्दशः नहीं हो सकी।

(३) श्वेताम्बरों के अनुसार दृष्टिवाद को छोड़कर शेष अङ्ग और अङ्गबाह्य आगम सुरक्षित हैं जबकि दिगम्बर परम्परा में दृष्टिवाद का अंशांस ही सुरक्षित है, शेष लुप्त हो गया है।

(४) श्वेताम्बरों के यहाँ ४५ आगम मान्य हैं जबकि दिगम्बरों में बारह अंग और चौदह अंगबाह्य। बारह उपाङ्गों का उल्लेख न तो दिगम्बर साहित्य में है और न श्वेताम्बरों के नन्दिसूत्र में है। दिगम्बरों ने मूल आगम लुप्त मानकर परवर्ती आचार्यों की कुछ रचनाओं को आगम की मान्यता दी है। उनमें प्रमुख हैं कसायपाहुड और छक्खण्डागम।

(शेष पृष्ठ १६७ पर)

पुरातत्त्व में पुस्तक-धारिणी सरस्वती

— डा० शैलेन्द्र कुमार रस्तोगी

माँ सरस्वती को विद्वानों की माता कहा गया है। इन्हीं की कृपा से विद्वानों की वाग्धारा फूट पड़ती है जिसमें विज्ञ समाज भी अवगाहन कर आह्लादित हो उठता है। शारदा माँ के सान्निध्य की चाह करता हुआ तब ही तो कवि कह उठता है :—

"शारदा शारदा अंभोज वन्दना वदनाम्बुजे ।
सर्वदा सर्वदा अस्माकम् सान्निध्यंक्रियात् ।।"

कवि आगे इन्हीं के ध्यान में विभोर होकर कह उठता है :—

आशासुराशि भवदङ्गवल्ली भाषैवदासीकृत दुग्ध - सिन्धु ।
मन्द स्मितै निन्दित शारदेन्दु, वन्दे अरविन्दासन सुन्दरीत्वाम् ।
वीणापुस्तकधारिणीहंसवाहिनीसमायुक्ताविद्यादानकुरु मेम ।।

प्रतिमा जगत में ज्ञान एवं ललितकला की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती की प्रतिमाएं सहज ही उपलब्ध होती हैं। ये प्रतिमाएं प्रस्तर, धातु, कागज व काष्ठ पर रूपायित हैं। नायलॉन के बटनों से बनायी गयी पुस्तकधारिणी सरस्वती की आधुनिक प्रतिमा भी उल्लेखनीय हैं। सरस्वती देवी को कभी तो कमल का आसन मिलता है, कभी हंस का वाहन और कभी वह इनसे रहित होती हैं। इनकी वीणा के नाद से मोहित हो हिरन भी आ जाते हैं।

(पृष्ठ १६६ का शेष)

[यह एक विस्मयकारी तथ्य है कि दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायों के साहित्य में वीर निर्वाण सम्वत् ३५५ (ईसा पूर्व १७२) में उड़ीसा में कुमारी पर्वत पर हुई वाचना को अनदेखा किया गया है। यह जैन श्रुत-आगम द्वादशांग के वाचन का सर्वप्राचीन उल्लिखित अभिलेखीय प्रमाण है। इस सम्बन्ध में हमारी पुस्तक **The Hathigumpha Inscription of Kharavela and the Bhabru Edict of Asoka—A Critical Study** दृष्टव्य है। — सम्पादक]

पुस्तकधारिणी सरस्वती की प्रतिमायें लगभग १२वीं शती ईस्वी से मिलती हैं। ऐसी एक मूर्ति अष्टभुजी मंदिर, मिर्जापुर जनपद, से प्राप्त है। दूसरी मूर्ति काले पत्थर पर बनी है–इसमें देवी चतुर्भुजी है, दो हाथों में वीणा है, तीसरे में पुस्तक है व चौथा खण्डित है। यह मूर्ति रुद्रपुर (जिला गोरखपुर) से मिली है। एक मूर्ति काले बसाल्ट पत्थर पर बनी है जो बंगाल के सुन्दरवन से प्राप्त हुई है और इस समय आशुतोष संग्रहालय, कलकत्ता, में सुरक्षित है। पुलूर (जिला बीकानेर, राजस्थान) से प्राप्त श्वेत संगमरमर की सरस्वती की दो मनोज्ञ प्रतिमाएं हैं जिनमें से एक राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली, में है। साहित्यक नगरी धारा (मध्य प्रदेश) की भोजशाला से प्राप्त वाग्देवी की मूर्ति लाल पत्थर पर गढ़ी हुई है और अब लन्दन के ब्रिटिश म्युज़ियम में है।

परन्तु पुस्तकधारिणी सरस्वती की सर्वप्राचीन मूर्ति (J. 24) राज्य संग्रहालय, लखनऊ, में सुशोभित है। यह दोहरी आधारपीठिका पर गोदूहिकासन (गाय दुहने की स्थिति) में बैठी है। मूर्ति खंडित है और उसका कन्धों के ऊपर का भाग अनुपलब्ध है। यह दो भुजी है। देवी की बाँयी भुजा पर उत्तरीय है जो अधोभाग व चरणों के ऊपर को स्पर्श करता है। बाँये हाथ में कंगन व बाँयीं कलाई में अक्षमाला बाँधे हुए हैं तथा दाँयें हाथ में अक्षमाला ले रखी थी जिसके चार मनके ही शेष हैं। बाँयें हाथ से लम्बी पोथी को पकड़ रखा है। कन्धे के समानान्तर भी आकृतियाँ थीं जिनके चरणमात्र ही शेष हैं। नीचे बाँयीं ओर वस्त्रधारी पुरुष श्रद्धावनत खड़ा है। दाँयीं ओर एक पुरुष आकृति है जो दाँयें हाथ में पात्र तथा बाँयें हाथ में नग्नता को छिपाने हेतु वस्त्र-खण्ड लिए है। खण्ड वस्त्र लिये आकृतियाँ जैन तीर्थंकर प्रतिमाओं की चरण चौकियों पर भी दृष्टिगोचर होती हैं, जिन्हें "अर्द्ध फालक" कहते हैं।

मूर्ति की चरण चौकी पर सात पंक्तियों में ब्राह्मी लिपि में लेख उत्कीर्ण है। इसमें उल्लेख है :—

१. [सिद्ध] संव ५०, ४ हेमन्त मासे चतुर्थे ४ दिवसे १० अ
२. र्यस पूर्व्वर्याम कोट्टियतो गणतो स्थानियतो कुलतो
३. वैरातो शाखातों श्रीगृहतो संभोग तो वाचकार्य्य
४. हस्तिअस्तिस्य शिष्यो गणिस्य अर्य्य मग्गहस्तिस्य सदाचारतो वाचकस्य अ

५. उपदेवस्य निव्वर्तने गोवस्य सिंहपुत्रस्यलोहिककारूकस्य दानं

६. सर्व्व सत्वा हित सुख एक सरस्वती प्रतिस्थापिता अवतले रंगनरतनो

७. मे

(इपी. इंडि., खण्ड १, पृ. ३६१/ नं. XXI; इंडि. एन्टी., खण्ड XXXIII, पृ. १०४/नं. १७; स्मिथ, वी.ए. : The Jaina Stupa And Other Antiquities of Mathura, प्लेट XCIX)

अर्थात्, संवत ५० + ४ = ५४ [+७८ (कनिष्क की प्राय: सर्वमान्य तिथि) = १३२ ई.] में लोहे का काम करने वाले सिंह पुत्र ने एक सरस्वती मूर्ति सब लोगों के हित सुख के लिए रंगरत्न (मंडप) में स्थापित करवायी।

यह मूर्ति मथुरा के कंकाली टीला से प्राप्त हुई है। यद्यपि इस मूर्ति में कोई कलात्मक आकर्षण नहीं है किन्तु "तिथि" तथा "एक सरस्वती" उत्कीर्ण होने के कारण यह मूर्ति ऐतिहासिक एवं पुरातात्त्विक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। आजकल यह मूर्ति जैन कला प्रदर्शनी में अमेरिका गई हुई है और विश्व के अन्य प्रमुख स्थानों की यात्रा पूर्ण कर १९९६ में स्वस्थान पर पुन: प्रतिष्ठित होगी।

राज्य संग्रहालय में ही एक अन्य मूर्ति (जे. २३) संवत ५० + २ = ५२ [+७८ = १३० ई.] की है। इसमें मात्र मोटी झाँझ पहने दो चरणमात्र ही शेष हैं। उत्कीर्ण लेख में आचार्य व लौहकारूकादि तो ठीक जे-२४ जैसे ही उल्लिखित हैं, किन्तु देवी के नाम का व रंगमंडपादि का उल्लेख नहीं है। आभूषण के आधार पर इसें लक्ष्मी प्रतिमा माना जाता है यद्यपि पुष्ट प्रमाण नहीं है।

विचार विन्दु

भगवान महावीर की प्राकृत

— डॉ० शशि कान्त

२ जून, १९९५, को श्रुतपंचमी की पूर्व संध्या पर श्री कुन्दकुन्द भारती, नई दिल्ली, में **अ. भा. शौरसेनी प्राकृत विद्वत संसद** की घोषणा की गई और संसद में यह प्रस्ताव भी पारित किया गया कि केन्द्र सरकार द्वारा प्राकृत भाषा को भारतीय संविधान की भाषा सूची में सम्मिलित कराने का प्रयत्न किया जाये। इस अद्‌भुत परिकल्पना के प्रस्तोता आचार्य श्री विद्यानन्द महाराज हैं।

कुछ समय पहले एक सज्जन जो स्वयं परिपक्व अवस्था के हैं और समाज के नेता भी हैं, हम से मिले थे और उन्होंने आचार्य श्री की इस परिकल्पना से हमें अवगत कराया था कि 'डिमरी', 'दिगम्बरी' का अपभ्रंश है और गढ़-वाल के डिमरी ब्राह्मण मूलत: दिगम्बर जैन थे। संयोग से एक डिमरी हमारे सहायक रह चुके थे, अत: हम मन्द स्मित से उनकी बात सुनते रहे थे। हमारे एक परिचित श्री शेरसिंह, आई. ए.ए स., हैं जिन्होंने बाबरी मस्जिद को जैन मन्दिर सिद्ध करने के लिए एक पुस्तक लिख डाली है और उसका एक प्रमाण यह भी दिया है कि अयोध्या में दन्तधावन कुण्ड के पास दिगम्बरी अखाड़ा है जो दिगम्बर जैनों का केन्द्र है। दुर्योग से उन्होंने पाण्डुलिपि हमें देखने के लिए भेज दी और हमने उनकी भ्रान्ति दूर करते हुए बताया कि 'दिगम्बरी अखाड़ा' वैष्णव साधुओं का एक सम्प्रदाय है—उसका दिगम्बर जैनों से कोई सम्बन्ध नहीं है, तथा यह भी कि 'दिगम्बर', 'शिव' का भी एक नाम है (दृष्टव्य, **शोधादर्श-८**, पृ. २३-२५)। श्री शेरसिंह यदि आचार्य श्री के पास अपनी पुस्तक भेजकर उनका आशीर्वाद प्राप्त करते तो शायद सुखी रहते। **प्राकृत** को संविधान की भाषा-सूची में सम्मिलित कराने का प्रस्ताव भी प्रकृति में भिन्न नहीं है।

साहित्यिक संस्कृत एक सुव्यवस्थित भाषा है जिसे चाहे कितनी भी अल्प संख्या में हों, कुछ संस्कृत-निष्ठ ब्राह्मण अपने वाद-संवाद में प्रयोग में लाते हैं, संस्कृत की विद्यापीठों में और विश्वविद्यालयों के संस्कृत विभागों में संस्कृत में संभाषण अपेक्षित है, उसका एक व्याकरण है जो भाषा को बांधे हुए है, वह भारत की बहुभाग जनता (जिसमें जैन भी शामिल हैं) की आस्था की भाषा होने के साथ ही वर्तमान आधुनिक भाषाओं का स्रोत/उद्‌गम आधार है—अत: मात्र धर्मशास्त्रों की भाषा न होकर आज भी वह एक जीवित भाषा

है—और इसलिये उसका भाषा सूची में सम्मिलित किया जाना किसी सीमा तक औचित्यपूर्ण है।

परन्तु प्राकृत की स्थिति नितान्त भिन्न है। यह एक भाषा नहीं है वरन् विभिन्न रूढ़ भाषाओं का एक समूह है जिन सबके व्याकरण भी भेदपरक हैं। उन्हें बोलने वाला भी कोई नहीं है—कोई जैन (दिगम्बर, श्वेताम्बर या स्थानकवासी) साधु-साध्वी भी नहीं बोलते। प्राचीन ग्रन्थों को समझने के लिए प्राकृत भाषाओं का समुचित पठन-पाठन आवश्यक है और विश्वविद्यालय स्तर पर स्नातक एवं स्नातकोत्तर अध्ययन में उन्हें सम्मिलित किया जाना अपेक्षित है—जैसा कि हो भी रहा है। परन्तु प्राकृत को संविधान की भाषा सूची में सम्मिलित किये जाने और प्राकृत दिवस की परिकल्पना को प्रसार दिये जाने में कोई सार नहीं है। प्राकृत के विद्वान कृपया मनीषी के रूप में विचार करें। यह भी विचार करें कि क्या तीर्थों के आधिपत्य संबंधी झगड़ों के समान ही दिगम्बर-श्वेताम्बर सम्प्रदायों के बीच जैन शौरसेनी, अर्ध मागधी और जैन महाराष्ट्री में से किसी एक रूप को मान्यता दिये जाने पर झगड़ा शुरू नहीं होगा और जैन समाज भाषा-विवाद के कारण भी पुनः विघटित न होगा।

भगवान महावीर दिगम्बर आम्नाय के अनुसार तो बोले ही नहीं—उनकी बात उनके गणधरों ने बताई जो सभी संस्कृत-निष्ठ ब्राह्मण पंडित थे। उनके ५०० वर्षों के बाद जब उनकी वाणी का संकलन प्रारंभ हुआ, महावीर से सुना (श्रुत) कुछ था ही नहीं वरन् जो था वह गणधरों के माध्यम से प्राप्त सैद्धान्तिक ज्ञान था जिसे कुन्दकुन्द, पुष्पदन्त, भूतबलि इत्यादि विद्वानों ने सूत्र रूप में शौरसेनी प्राकृत में निबद्ध किया। दिगम्बर ग्रन्थों की यह शौरसेनी प्राकृत मूल शौरसेनी के स्रोत से बहुत दूर प्रयोग में लाई गई और भाषायिक मूलधारा से विच्छिन्न होने के कारण एक रूढ़ भाषा के रूप में कतिपय विशिष्टताओं के साथ प्रयोग में आई, अतः इसे जैन शौरसेनी प्राकृत की संज्ञा दी गई है।

श्वेताम्बर आम्नाय में महावीर बोलते हैं, परन्तु उन्होंने जो कुछ बोला वह गणधर सुधर्मा स्वामी से जम्बू स्वामी ने जैसा सुना, उसे अर्धमागधी प्राकृत में महावीर के ९८३ या ९८७ वर्ष बाद संकलित किया गया—यह अलग बात है कि उस १००० वर्ष के अन्तराल में उसमें कितना कुछ अक्षेप प्रविष्ट होता गया। बाद को अर्धमागधी तो आर्ष मान ली गई, अतः आगम-बाह्य साहित्य महाराष्ट्री प्राकृत में लिखा गया और उसको भी विशिष्ट करने

के लिए उसमें कुछ भाषागत संस्कार जोड़ दिये गये जिससे वह **जैन महाराष्ट्री** कहलायी जाने लगी।

जैनों द्वारा प्रयुक्त प्राकृत के भेदों के सम्बन्ध में डॉ० हीरालाल जैन कृत **भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान**, पृ. ४६-२११, दृष्टव्य है। डॉ. ए. एन. उपाध्ये का Introduction to Pravacanasara भी दृष्टव्य है।

महावीर और बुद्ध एक ही अंचल के वासी थे और एक ही प्रदेश में दोनों ने भ्रमण कर अपने उपदेश दिये थे। स्पष्टत: उनकी भाषा उस प्रदेश की तत्कालीन बोली (प्राकृत) रही होगी जो सामान्यत: मागधी के नाम से जानी जाती है। परन्तु बुद्ध के वचन **पालि** में निबद्ध हैं जो **मगधी** का ही वह रूप है जिसे बौद्ध भिक्षु अपने साथ श्रीलंका ले गये थे और वह भाषा वहाँ रूढ़ होकर जिस रूप में ग्रन्थ लेखन के लिए बुद्ध के प्राय: ५०० वर्ष बाद प्रयुक्त हुई, उसे **पालि** नाम दिया गया।

यदि समीचीन दृष्टि से देखा जाय तो महावीर और बुद्ध के मूल प्रवचन यदि कोई होंगे तो एक ही भाषा में होंगे—उस प्रदेश-अंचल-क्षेत्र के वासियों की बोली (प्राकृत) में होंगे जहाँ उन्होंने परिव्रजन किया। उसमें अन्तर का प्रश्न ही नहीं उठता। उन महापुरूषों के ५००-१००० वर्ष बाद उनके नाम से जो कुछ संरक्षित किया गया, उसकी भाषा संरक्षणकर्त्ताओं की भाषा है- स्वयं उनकी भाषा नहीं, अत: उसे आर्ष या आगमिक कहना युक्तियुक्त नहीं कहा जा सकता। इस सन्दर्भ में सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के प्राकृत विभाग द्वारा १९८१ में आयोजित एक संगोष्ठी में भी हम अपने विचार व्यक्त कर चुके हैं—दृष्टव्य, उक्त विश्वविद्यालय का **परिसंवाद** (४), पृ. २२९-३५, तथा Svasti Sri (Dr. B. Ch. Chhabra Felicitation Volume), पृ. ९३-९८।

१६वीं शती ईस्वी से ग्रहस्थ श्रावकों द्वारा शास्त्रों का अध्ययन-मनन कर दार्शनिक चिन्तन को आगे बढ़ाया गया। गत २०० वर्षों में तुलनात्मक अध्ययन, ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में अध्ययन और समीक्षात्मक अध्ययन की शैली विकसित हुई जिन्हें अध्ययनशील जैन-अजैन विद्वान-मनीषियों ने उजागर किया। परन्तु विगत ५० वर्ष में पूर्व-चिन्तन समीक्षात्मक अध्ययन की वस्तु न रहकर नवोदित साधु संवर्ग द्वारा पक्ष-साधन एवं स्व-प्रचार का साधन बना लिया गया।

इसके दो उदाहरण हमारे सामने हैं—**आर्यिका ज्ञानमती माता जी** द्वारा **उमास्वामी श्रावकाचार** का (दृष्टव्य, **शोधादर्श**-२४, पृ. ५३-५७) और समयप्रमुख आचार्य श्री विद्यानन्द महाराज द्वारा **समयसार** का (दृष्टव्य, **शोधादर्श** २०, पृ. २३-२६, **शोधादर्श**-२२, पृ. ७८-८०, व इसी अंक २६ में साहित्य सत्कार के अन्तर्गत प्रो. खुशाल चन्द्र गोरावाला की समीक्षा) अपने मार्ग-दर्शन में प्रकाशन।

यदि वास्तव में वैराग्य हुआ है और साधु चर्या में उसकी आस्था है तो साधु साधना करेगा, अध्ययन करेगा और अपने सिद्धान्त को अपने शास्त्रों की मान्यता के अनुसार अनुसन्धानकर्ताओं को स्पष्ट करेगा—वह शोधक, शास्ता और अधिष्ठाता होने का दम्भ नहीं करेगा। यदि इस स्थिति में शीघ्र ही समाज के प्रबुद्ध वर्ग द्वारा—विशेषकर प्राकृत और जैन विद्या के विश्वविद्यालयी / महाविद्यालयी विभागों में कार्यरत लेक्चरार, रीडर और प्रोफेसरों द्वारा, सुधार का प्रयत्न नहीं किया जाता तो उनके कार्यकाल की समाप्ति पर ये पद स्वतः ही समाप्त हो जायेंगे क्योंकि कोई विद्यार्थी इन विषयों को पढ़ने के लिए आयेगा ही नहीं। साथ ही, विपुल प्राकृत साहित्य तथा जैन धर्मानुयायी कुल में अकस्मात जन्मे अन्य विद्वानों का साहित्यिक योगदान उसी प्रकार विद्वत् जगत में उपेक्षित हो जायेगा जैसा कि इस शताब्दी के प्रारंभ तक था। डॉ. हीरालाल जैन, डॉ. ए. एन. उपाध्ये, प्रो. ए. चक्रवर्ती, पं. नाथूराम प्रेमी, पं. जुगल किशोर मुख्तार, पं. कैलाश चन्द्र शास्त्री, मुनि जिनविजय और डॉ. ज्योति प्रसाद जैन के व्यापक एवं गहन अध्ययन और विषय के सार्वजनिक धर्म-निरपेक्ष धरातल पर प्रस्तुतिकरण से जैन साहित्य और इतिहास के अध्ययन को देश के भीतर और विदेशों में विद्वत् जगत में इस शती में जो प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है उस प्रवाह को बनाये रखने का दायित्व हमारे उपरोक्त शिक्षक वर्ग का है, मात्र मुनि भक्ति प्रदर्शन से परितोष करने का नहीं।

——

हिन्दी पद्यानुवाद (क्रमशः)–श्री प्रकाश चन्द्र जैन 'दास'

११. अपरिग्रह सूत्र

१४०. संगनिमित्तं मारइ, भणइ अलीअं करेइ चोरिक्कं ।
सेवइ मेहुण मुच्छं, अप्परिमाणं कुणइ जीवो ॥१॥
जीव परिग्रह के निमित्त हिंसा करे संसार में ।
बोले सदा असत्य भी इस हेतु से व्यवहार में ॥
चोरी करे मैथुन का सेवन भी इसी कारण करे ।
प्रेरित इसी से वह आसक्ति भाव भी धारण करे ॥१॥

१४१. चित्तमंतमचित्तं वा, परिगिज्झ किसामवि ।
अन्नं वा अणुजाणाइ, एवं दुक्खा न मुच्चई ॥२॥
वस्तु के संचय के लिए नर भाव जब मन में भरे ।
अति अल्प भी सजीव या निर्जीव का परिग्रह करे ॥
अन्य जन परिग्रह का अनुमोदन तथा करता रहे ।
मुक्त न हो दुःख से वह कष्ट ही सहता रहे ॥२॥

१४२. जे ममाइय मतिं जहाति, से जहाति ममाइयं ।
से हु दिट्ठपहे मुनी, जस्स नत्थि ममाइयं ॥३॥
त्याग परिग्रह बुद्धि का जो विश्व में मानव करे ।
उस त्याग से ही वह मनुज परिग्रह से हो पाता परे ॥
मुक्त परिग्रह से मुनि होता है जब आचार में ।
देख पाता है तभी वह मार्ग इस संसार में ॥३॥

१४३-१४४. मिच्छत्तवेदरागा, तहेव हासादिया य छद्दोसा ।
चत्तारि तह कसाया, चउदस अब्भंतरा गंथा ॥४॥
बाहिरसंगा खेत्तं, वत्थु धणधन्नकुप्पभांडाणि ।
दुपयचउप्पय जाणाणि, केव सयणासणे य तहा ॥५॥
मिथ्यात्व स्त्री पुरुष भी एवं नपुंसक वेद भी ।
हास्य एवं रति अरति भी शोक भय आवेग भी ॥
तथा जुगुप्सा क्रोध एवं मान माया मानिये ।
सह लोभ के चौदह यह आभ्यन्तर परिग्रह जानिये ॥४॥
क्षेत्र और निवास भी धन धान्य का संचय तथा ।
वस्त्र एवं भाण्ड भी अरु दार दासी सर्वथा ॥

पशु धन तथापि यान का संग्रह भी इसे मान लो ।
शय्या तथा आसन सहित दश बाह्य परिग्रह जान लो ।।५।।

१४५ सव्वगंथविमुक्को, सीईभूओ पसंतचित्तो अ ।
जं पावइ मुत्तिसुहं, न चक्कवट्टी वि तं लहइ ।।६।।
पूर्ण परिग्रह मुक्त शीतीभूत जो मतिमान है ।
प्रसन्न चित्त भी नित्य रहता वह श्रमण महान है ।।
मुक्ति सुख जो प्राप्त होता उस महा जन को सदा ।
चक्रवर्ती भूप को भी वह न मिलता सुख कदा ।।६।।

१४६. गंथच्चाओ इंदिय-निग्गहणे अंकुसो व हत्थिस्स ।
णयरस्स खाइया वि य, इंदियगुत्ती असंगत्तं ।।७।।
गज राज के वश हेतु ज्यों अंकुश का ही प्रयोग है ।
नगर रक्षा के लिए खाई का भी उपयोग है ।।
इन्द्रियों के दमन हेतु त्याग परिग्रह का तथा ।
वश में होवें इन्द्रियां निस्संग रह कर सर्वथा ।।७।।

डा० ज्योति प्रसाद जैन की पुण्य तिथि

११ जून, १९९५, को इतिहास-मनीषी विद्यावारिधि स्व. डॉ. ज्योति प्रसाद जैन की पुण्य तिथि पर ज्योति प्रसाद जैन ट्रस्ट द्वारा ज्योति निकुंज, चारबाग, लखनऊ में स्मृति गोष्ठी आयोजित की गई। अध्यक्षता श्री अजित प्रसाद जैन ने की।

श्रद्धेय डॉक्टर साहब के चित्र पर माल्यार्पण के बाद मंगलाचरण के रूप में 'णमोकार मन्त्र' का पाठ तथा डॉक्टर साहब द्वारा रचित 'वीतराग स्वरूपं' और 'जय महावीर नमो' का सामूहिक गायन हुआ। श्री भगवान भरोसे ने डॉक्टर साहब का प्रिय भजन 'अरे जिया तू काहे को नेह करे' गाया।

धर्म का मर्म और जैन जीवन पद्धति को स्पष्ट करने वाली डॉक्टर साहब की सारभूत वार्ता 'नदिया एक : घाट बहुतेरे', जो २४ जनवरी, १९८८, को आकाशवाणी लखनऊ से प्रसारित हुई थी, इस अवसर पर सुनी गई और उसमें व्यक्त विचारों पर चर्चा भी हुई। चर्चा में श्री नरेश चन्द्र जैन, डॉ. पूर्ण चन्द्र जैन, श्री प्रेम चन्द्र जैन, श्री डी. के. जैन, श्री शिव प्रसाद अवस्थी तथा श्रीमती सुधा जिन्दल ने भाग लिया और डॉक्टर साहब की व्यक्तिगत विशेषताओं पर अपने अनुभवों के आधार पर प्रकाश डाला।

अध्यक्ष श्री अजित प्रसाद जैन, जो ७० वर्ष डॉक्टर साहब के साथ रहे, ने भी डॉक्टर साहब के व्यक्तित्व और कृतित्व को अपने संस्मरणों द्वारा उजागर किया। डॉ. शशि कान्त ने समागतवृन्द का आभार व्यक्त करते हुए डॉक्टर साहब की अप्रकाशित कृतियों को शनैः शनैः प्रकाशित करने और उनके कार्यों को आगे बढ़ाते रहने का संकल्प व्यक्त किया।

श्री प्रकाश चन्द्र जैन 'दास' ने निम्नलिखित काव्यमय श्रद्धाञ्जलि प्रस्तुत की :

आज ज्योति प्रसाद तुझ को याद हम सब कर रहे हैं।
कार्य तेरे स्मरण कर श्रद्धा से मन को भर रहे हैं।।
जिन्दगी का सफ़र तो हर मनुज को करना पड़ा है।
जन्म ले कर मृत्यु तक सबको यहाँ चलना पड़ा है।।

आत्मा है अमर किन्तु तन तो उस से छूट जाता।
सूत्र जो सम्पर्क का वह उस के कारण टूट जाता।।
न कोई विकल्प अनादि काल से यह ही कहानी।
पुरुष, किन्तु तुम से मग में छोड़ जाते कुछ निशानी।।

जिस से श्रद्धा पात्र बन जाते जगत में वे सदा हैं।
मार्ग दर्शक रूप में विख्यात होते सर्वदा हैं।।
भगवान श्री महावीर ने जो ज्ञान जगती को दिया था।
ज्योति! तुम ने निज हृदय उस से प्रकाशित कर लिया था।।

साहित्य सेवा में जुटे फिर ज्ञान का दीपक जलाया।
तत्त्व चिन्तन कर मनुज को धर्म का पथ भी दिखाया।।
इतिहास-मनीषी जगत में आप फिर माने गये थे।
"दास" विद्यावारिधि के रूप में जाने गये थे।।

हे ज्योति! चारु कान्त तव सुत शशि रमा सुन्दर द्वयं।
भक्ति रत निज जनक की शुभ कार्य कर गरिमा मयं।।
'दास' वाणी भाव भी उन के सुखद् अभिराम हैं।
शत शत अभिनन्दन उन्हें बन गये वे कीर्तिधाम हैं।।

— रमा कान्त जैन
संयोजक

———

साहित्य सत्कार

समयसार—समयप्रमुख—आ. विद्यानन्द मुनि; सम्पादक–श्री बलभद्र जैन; प्रकाशक–कुन्दकुन्द भारती, १८-बी, स्पेशल इन्स्टीट्यूशनल एरिया, नई दिल्ली-११००६७; द्वितीयावृत्ति–१९९४, विद्यार्थी संस्करण; पृ. सं. २८ + ३१३ (प्रति, श्रीयुत प्रा. नरेन्द्र प्रकाश जी, सम्पादक **जैन गजट**, से प्राप्त)

आम्नायाचार्य कुन्दकुन्द–द्विसहस्राब्दी के समय 'वीर निर्वाण ग्रन्थ प्रकाशन समिति' (४८, शीतला बाजार, इन्दौर) द्वारा प्रकाशित 'समयसार गुटका' पाकर मन में आया था कि इसके विषय में श्री १०८ समयप्रमुख से जिज्ञासा करूं। किन्तु उस पर छपे 'बाल-संस्करण' ने मुझे 'सहसा न विद्धीत क्रियां' की स्मृति दिलाई, क्योंकि संस्करण के समान उस समय मेरी भी 'बाल-जिज्ञासा' होने की संभावना थी। तथा मै अपनी मन्थरनाड़ी के अनुसार प्रकृत ग्रन्थ के प्रथम 'विद्यार्थी-संस्करण' (१९७८) तक प्रतीक्षा में 'सार्वजन-संस्करण' की आशा लगाये था। इसे देखकर मुनिश्री के दर्शन करके अपने मंतव्यों का निश्चय किया ही था कि—

स्वयभूं सप्रमाण सूक्ष्मेक्षक श्रमण-सिद्धान्तइतिहास-कार स्व. आचार्य जुगल किशोर की पत्रिका **अनेकान्त** के अंक वर्ष ३३ कि २ से आरम्भ हुई कुन्दकुन्द-भारती से प्रकाशित आम्नयाचार्य की कृतियों के परम्परा-प्राप्त मूल पाठों में भी परिवर्तन की चर्चा देखकर, तथा मा. सम्पादकों (पं. पद्मचन्द जी एवं पं. बलभद्र जी) के बीच हुए पत्राचार को सावधानी से पढ़कर सन् १९७५ से वर्तमान चिन्ताएं मुखर हुईं। और वर्तमान युगाचार्य श्री १०८ शान्ति सागर जी के समय का सत्प्ररूपणा के सूत्र सं ९३ का 'अत्र संजदा प्रतिभाति' प्रकरण मानसपटल पर छा गया, जिसका विसर्जन २२-७-८६ को समाधिस्थ अवस्था में पं. जिनदास जी फड़कुले को "अरे जिनदास धवलातीलं ९३ सूत्र भावस्त्री चे वर्णन करणांरे आहे, वतेतें 'संजद' शब्द अवश्य पाहिजे, अदा वाहतें", परिमार्जन-प्रतिबोध देकर प्रातः स्मरणीय युगाचार्य श्री ने स्वयं किया था। अनायास ही मुख से निकला 'ते गुरू मेरे मन बसो' सविशेष अपने प्र. प्र. प्रशिष्यों को वही अन्तर्मुखता, विरक्ति दो, जिसके साथ आपने १९४९ में मूलाचार के अंग्रेजी-भाषान्तरकार स्व. बैरिस्टर चम्पतराय को ३, ४ गाथाओं का विशद विवेचन न करके "बैरिस्टर मेरा श्रुतज्ञान या चिन्तन

इनके विषय में स्पष्ट नहीं है। अभी शब्दार्थ देकर काम चलाओ।" सलाह दी थी। इस गुरूपरम्परा के अनुसार मैं कल्पना भी नहीं कर सकता था कि श्रमण या प्राग्वैदिक भारतीय-संस्कृति की जनभाषा में प्रथम प्ररूपक कुन्दकुन्दाचार्य की संहिता को, भौतिकता से आक्रान्त मानवता को देने के लिए 'कुन्दकुन्द-भारती' संस्थान ही आम्नायाचार्य के एक मूल पद के साथ छेड़छाड़ करेगा, क्योंकि वह शास्त्रार्थशार्दूल समन्तभद्राचार्य की दृष्टि में 'त्वच्छासनैकाधिपतित्वलक्ष्मी' है जिनकी प्रखर उक्तियों के कारण पंचमकाल वक्ता (समयप्रमुख) व श्रोता (सम्पादकादि) के वचनानय का निग्रह शाश्वत है। इसी भावना से लिखने-बोलने के पहले मैं १-५-९३ को, मुनिश्री १०८ से निवेदन करने गया था। मुनिश्री से हुए संभाषण का विवरण **शोधादर्श**-२० (जुलाई १९९३) के पृ २३-२६ पर प्रकाशित हो चुका है।

लगभग एक वर्ष तक ऐसा लगा कि आधुनिक युगाचार्य के प्रशिष्यत्व ने जोर मारा है और अब कुन्दकुन्द-भारती, आम्नायाचार्य के मूलरूप का सर्वोपरि संरक्षक (Custodian) रहेगा। किन्तु १९९४ में प्रकाशित अब द्वितीयावृत्तिमें पृ. १५ से १९ तक छपी समयप्रमुख श्री १०८ की देशना 'कि विद्वानों की चर्चा वीतराग होनी चाहिए', को बाँचकर लगा कि अभूतपूर्वता एवं असाधारणता या अभिनवप्रियता वही करा रहे हैं, जो किसी अलंकार (उपाधि)-लुब्ध कवि के विषय में 'अनुप्राशस्य लोभेन भूप कूपे निपातत:" काव्यजगत का मधुरोपालम्भ है। और महावीर निर्वाण की २६वीं शती में कुन्दकुन्द-भारती ही आम्नायाचार्य की कृतियों की शोधक एवं व्याख्याकार न रहकर संशोधक्ता एवं परिमार्जक्ता की ओर अग्रसर है।

समयप्रमुख भाषा को पूर्वचर और व्याकरण को उत्तरचर मानकर भी **अनेकान्त** (वर्ष ४१, कि. ४) के शब्द व्याकरणातीत को लेकर व्याकरण को भाषा को सजाने-संवारने का श्रेय देते हुए उसको अनजाने ही धार्मिक वाङ्मय में भी अनिवार्य सिद्ध करने का प्रयास करते दिखते हैं। जब कि न्यायशास्त्री भी व्याकरण को "अस्पाकूणा नैयायिकानां अर्थरि प्रयोजनं न तु शब्दरि" घोषित करके महत्व नहीं देते हैं, क्योंकि व्याकरण, भावों या चिन्तन की आदान-प्रदानक ७०० भाषाओं को व्याप्य (लघुभाषा) से व्यापक (महाभाषा) बनाता है।

साहित्यिक संस्कृत के समान प्राकृतें उसे विद्वज्जन-संवेद्य रखकर, शब्द-शास्त्र का सागर (अपेयजल) नहीं बनातीं। व्याकरणज्ञ शब्द-विद्वान् ही

होता है। यह आवश्यक नहीं कि उसे 'शिष्ट' ही होना चाहिए। फलतः कुन्दकुन्द-भारती के प्रमुख श्री १०८ से गुरू-श्रद्धालु समाज यही आशा करता है कि 'व्याकरण-पूर्व' को 'व्याकरणातीत' मानकर अपने विद्वान-संपादक द्वारा जिन-वाणी को साहित्यिक-शौरसेनी के सांचे में कसने के प्रयास को अभूत-पूर्व या 'लीक से हटकर', कहके हम अनादिकाल से भटकते प्राणियों को अनन्त-भटकन में पड़ने की वीथि न देवें, क्योंकि यह 'घोड़े के आगे गाड़ी' रखने के समान है। पूर्वचर कुन्दकुन्द-भारती को उत्तरचर ब्राह्मण (वैदिक संस्कृति के) व्याकरणों में कसना वही होगा, जो चन्द्रगिरि पर बनी भरतेश्वर की मूर्ति के साथ मूर्तिभंजकों ने किया है। यह पुरातत्त्वीय स्मारकों के विरूपण या विनाश के समान 'इहामुत्रापायावद्य' है जिससे हम अविरत भी विरत हैं।

वागरणसुत्त आदि पदों के आधार पर ही व्याकरण-पूर्व आध्यात्मिक ग्रन्थों के मूलपाठों को उत्तरकालीन व्याकरणसाधित शब्दों द्वारा बदलना 'बाल तर्क' नहीं है, अपितु 'हाथीगुम्फा' के खारवेल के शिलालेख के मूलपदों को व्याकरण या अर्थ की दृष्टि से अब उत्कीर्ण कराना है जिसे मुनिश्री भी 'इहामुत्रापायावद्य' मानने से इंकार नहीं करेंगे।

मूल (दिगम्बर) आगमों के सर्वप्रथम सूत्रकार आचार्यवर गुणधर-भट्टारक के सूत्रों पर वृत्तिकार यतिवृषभाचार्य ने लिखा था—

मंगल कारण हेदू सत्थं सपमाणं णामकनारा।
पढमं चिय कहिदव्वा ऐसा आइरियपरिभाषा॥

—**तिलोयपण्णति**, १, ७

सुयणज्ञानसरीरी आचार्य वीरसेन ने इसका ही अनुसरण करके **धवलाटीका** के मंगलाचरण रूप में—

मंगल णिमित्त हेऊ परमांण णाम तहा कनारं।
वागरिय छप्पि पिच्छा वक्कवाणउ सत्थमाइरियो॥

दिया है। उत्तरोत्तर ग्रन्थकर्त्ता कुन्दकुन्दाचार्य की कृति **पंचास्तिकाय** के संस्कृत टीकाकार जयसेनाचार्य ने भी अपनी कृति में इस गाथा को उद्धृत करके 'वागरिय' का पर्यायवाची 'व्याख्याय' लिखा है और इस प्रकरण को समाप्त करते हुए 'इति संक्षेपेण मंगलाद्यधिकार–षडक् प्रतिपादितं व्याख्यातम्' ही लिखा है। उनको वागरण का अर्थ यदि व्याकरण संभव होता तो वे अपनी टीका

में प्रयुक्त और सम्पादक (श्री बलभद्र) की उत्तरकालीन-व्याकरणपरता के अनुसार केवल व्याख्यान न करके इन छहों-अंगों के प्रकृति-प्रत्ययादि भी लिखते, अस्तु। सागारानगारधर्मों के विद्वज्जन-संवेद्य रचनाकार तथा अनगारों के पाठक रूप से श्रुत पण्डिताचार्य आशाधरजी ने भी जइवसहकृत गाथा की संस्कृत छाया **अनगारधर्म** (१-६ की व्याख्या, तृतीय उद्धरण) में जयसेनाचार्य की व्याख्या करके जयसेनाचार्य का ही समर्थन (व्याख्याय) किया है।

वक्ता-श्रोता वचनानय से सावधान उत्तरोत्तर-ग्रन्थकारों ने, यदि शिवकुमार महाराजादि की अवबोधकता के लिए पाठवैविध्य (पुग्गल-पोग्गलादि) किये हों तो समुचित है क्योंकि उन्हें 'वत्थु सहावोधम्मो' रखना था तथा द्वादशवर्ष पठन-पाठन कराके भी विद्वज्जन-संवेद्य रूप से आत्मरूप को 'धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्' करके जनसाधारण को जीव-उद्धार कला (सहज पठन-पाठन एवं यजन-याजन) से वंचित नहीं करना था, और अपनी भी जीविका का भार कृषि-मसि-असि-धारकों पर डालकर प्रतिग्रह (दान) उपजीवी नहीं बनना था। वे थे 'ध्वनन शिल्पि करस्पशान्मुरज: किमपेक्षते' ख्याति-लाभ-पूजा से विरत।

जहाँ तक निरवद्य सम्पादन की बात है वह समयप्रमुख श्री की व्यक्तिगत मान्यता है। जैसा कि उनसे १-५-९३ को निवेदन किया गया था, भा० दि० जैन संघ का लघुतम सेवक होने के कारण मुझे भी सम्पादकद्वय के साथ आत्मीयता है। श्री १०८ मुनि श्री के युगों पहिले से, ये उपदेशक-विद्यालय के स्नातक थे। अपनी-अपनी मान्यता के अनुसार संघ को छोड़कर ये समयप्रमुख श्री १०८ के लोकसंग्रही रूप से आकृष्ट हुए थे। पं. बलभद्र जी ने आपके सान्निध्य में 'अज्जमंखु' होना स्वीकार किया और पं. पद्मचन्द नागहत्थि नहीं हो सके।

सम्पादक श्री ने जो सूत्र निश्चित किये उनकी चर्चा तत्कालीन जैन-साहित्य के लोकमान्य प्राकृतज्ञों तथा श्रुत-स्थविरों के साथ करने या कराने की कुन्दकुन्द भारती ने क्यों उपेक्षा की? स्व. डॉ. हीरालाल जी ने सर्वप्रथम सहयोगी स्व. पं. हीरालाल जी और तदनन्तर पं. फूलचन्दजी एवं पं. बालचन्दजी से गहन विमर्श करके भी अपने सम्पादन-सूत्रों का प्रारूप तत्कालीन विज्ञ (दिगम्बर) जगत को भेजा था। अपनी अन्तिम सांस तक मुख्यरूप से मूल-आगमों के सम्पादक एवं भारती (हिन्दी)—भाषान्तरकार स्व. फूलचन्द्र जी की प्रेसकापी

भी भा. दि. जैन संघ स्वयं वृद्ध मुख्तार बन्धुओं को भिजवाता था। आश्चर्य होता है कि मूल-आगमों के टीका-(परिकम्म)-कार प्रागार्य भारतीय-संस्कृति को संस्कृत-पूर्वयुगीन भाषाओं में ही चित्रित करके वैदिक-संस्कृति को भी त्याग, सन्यास, मोक्ष, अध्यात्मवाद, लोक-परलोक, दर्शन तथा गृहस्थ और वानप्रस्थ (गृह्यसूत्र आरण्यक रूप से) संहितादाता की भारती को भारतीय क्या विश्वजनीन करने के, उदात्त लक्ष्य को उद्देश्य मानकर बनी 'कुन्दकुन्द भारती' ने अपने आपको 'अहमेवमतंतो जिनवाण्याः' क्यों किया ? जब कि सम्पादन में पूर्ण रूप से उन पूर्व पाठों के विषय में साधार सूचना का भाव था, जिन्हें 'सयं अच्छी आउली करिय असुकारणं पुच्छेसि' कर के अनेकान्त से मांगा गया, और न देने की बात करके परम्परा से आगत पदों के साथ कामाचार किया गया है। प्रत्येक पृष्ठ पर रिक्त बहुभाग या भाग यह सूचित करता है कि यहां सम्पादन में उपयुक्त पाठान्तरों के लिए ही उसे, इस वर्द्धमान मुद्रण व कागज मूल्यों के युग में छोड़ा गया है।

अच्छा होता कि समयप्रमुख मुनि श्री १०८ अपने सम्पादक जी को दिशा देते कि उनके द्वारा अधीत ताडपत्रीय तथा अद्यावधि मुद्रित प्राचीन संस्करणों को प्रति संकेत (क, ख आदि) दे करके समस्त पाठों की सोद्धारण पुष्टि करें और टिप्पणी में अपने मान्य उत्तरकालीन प्राकृत—व्याकरणों के रूपों को समूत्र देवें, तो यह विद्यार्थी ही नहीं, 'शोधार्थी-संस्करण' हो जाता—जैसा कि स्व. मुख्तारबन्धुओं के समान जिनवाणी साधनालीन पं. जवाहरलाल जी (भिंडर) ने आचार्यकल्प पं. टोडरमल जी की कृति **मोक्षमार्गप्रकाशक** की मूल-भाषा को अक्षुण्ण रखकर 'विशेष' के माध्यम से जिज्ञासुओं एवं शोधकों के लिए दिशा देकर किया है जो उनके परम सहयोगी डॉ. चेतनप्रकाश जी पाटनी (श्री पार्श्वनाथ मन्दिर, शास्त्री नगर, जोधपुर-३४२००३) द्वारा प्रकाशित संस्करण १९९४ से स्पष्ट है। सूयणाणसरीरी वीरसेन स्वामी ने मंगल को अनिवार्य कहा है क्योंकि इसके द्वारा टीका, ग्रन्थकर्त्ता, सम्पादक, प्रवचनकर्ता भी शपथ करता है, परमगुरू परम्परागुरू के वचनों की तदवस्थतता के साथ-साथ उनके वचनसार-अनुसरण की एवं कर्ता आचार्य के शब्दों की तदवस्थता की, क्योंकि तत् आचार्य के पद उसके लिए शब्दरूपी पुरातत्त्वीय स्मारकों के समान हैं। वे भाषा-सहकार या स्याद्वाद के समान हैं और साहित्यिक संस्कृत के समान भाषा-एकाधिकार से अछूते हैं। विश्वास है कि 'कुन्दकुन्द-भारती' उत्तम मुद्रण, आवरणसज्जादि के समान परम्परित-पाठों की अक्षुण्णता या तदवस्थता

को महत्त्व देकर वीर निर्वाण की ५-६वीं शती में सूत्रित आगमों को वीर निर्वाण की १०वीं शती के बाद संकलित जिनसम्प्रदायी (श्वेताम्बर) आगमों के समान "बहुश्रुत विच्छितौ——भविष्यद् भव्यलोकोपोकाराय श्रुतभक्तेयेच———वलम्यामकार्य——तन्मुखाद् विच्छन्नावशिष्ठान, न्यूनाधिकान् त्रुटिताऽत्रुटितान् आगमान्·——" होने के संकट से बचाकर मूल (अचेल) संघी आगमों में झलकती वेदपूर्व या **आर्यपूर्वसंस्कृति** के ध्रुव को चलायमान होने के संकट से बचाकर अनुगृहीत करेगी।

— प्रो० खुशालचन्द्र गोरावाला
वाराणसी

वात्सल्य रत्नाकर—प्रधान सम्पादिका–आर्यिका स्याद्वादमती; प्रकाशक–भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद्, श्री दिगम्बर जैन बीसपंथी कोठी, मधुबन, शिखरजी–८२५३२९; तीन खण्ड में दो हजार से अधिक पृष्ठ; सचित्र; मूल्य स्वाध्याय; प्रथम आवृत्ति अक्तूबर १९९३।

'वात्सल्य रत्नाकर' उपाधि से विभूषित आचार्य १०८ श्री विमल सागर महाराज की जन्म जयन्ती पर ८ अक्तूबर, १९९३ ई., को शिखरजी में लोकार्पित किया गया तीन खण्डों का यह सचित्र विशालकाय ग्रन्थ वस्तुतः संग्रहणीय है। इसका संयोजन, सम्पादन और इसमें वस्तु सामग्री का चयन भक्तिनिष्ठा और परिश्रम के साथ सुनियोजित ढंग से हुआ है जिसके लिये संयोजक, प्रधान सम्पादिका व उनके सहयोगी और प्रकाशक साधुवाद के पात्र हैं।

साधिक पांच सौ पृष्ठ का प्रथम खण्ड पूर्णतया आचार्य श्री को समर्पित है। यह श्रद्धा-सुमन, भावोद्गार, मनोज्ञ व्यक्तित्व, बोधामृत, तीर्थाटन व धर्म प्रभावना, योग साधना तथा प्रश्न हमारे : उत्तर आपके—इन सात उप खण्डों में विभाजित है। बोधामृत में आचार्यश्री की डायरी से संकलित अंश भी हैं।

जिनवाणी का प्रतिनिधित्व करने वाला लगभग सवा आठ सौ पृष्ठ का द्वितीय खण्ड पञ्च परमेष्ठि, जैन दर्शन–आगम और सिद्धान्त, आचार्य कुन्दकुन्द तथा जैन शासन के प्रभावक आचार्य–इन चार उप खण्डों में विभाजित है, जिनमें ७५ विद्वानों के लेख समाहित किये गये हैं।

श्रमण संस्कृति के उपासकों को समर्पित लगभग सवा सात सौ पृष्ठ के तृतीय खण्ड में १०८ विद्वान मनीषियों के लेख संग्रहीत किये गये हैं और उन्हें

श्रमणाचार, श्रावकाचार, संसार मार्ग, जैन तीर्थ, जैन पर्व और व्रत विधान, जैन संस्कृति व साहित्य, प्रकीर्णक तथा जैन रामायण, इन ८ शीर्षकों में वर्गीकृत किया गया है।

इस प्रकार ग्रन्थ के तीनों ही खण्ड ज्ञानप्रद सामग्री से परिपूर्ण हैं तथा आचार्य श्री विमल सागर के व्यक्तित्व के साथ-साथ जैन धर्म, दर्शन, संस्कृति, साहित्य इत्यादि का परिचय पाने के लिये उपयोगी हैं।

आचार्य श्री के भक्तों द्वारा प्रभूत द्रव्य व्यय कर प्रकाशित उत्तम कागज, सुष्ठु मुद्रण और कलात्मक साज-सज्जायुक्त इस ग्रन्थ की गरिमा में, यदि इसमें आचार्य श्री के खड्गासन चित्र 'अभिवन्दना' और 'अनुक्रमणिका' के सामने तथा अन्यत्र नहीं दिये गये होते, तो और भी अभिवृद्धि होती, ऐसा हमारा अपना विचार है। यदि विद्वान लेखकों का पता और संक्षिप्त परिचय भी साथ में रहता तो ग्रन्थ की उपयोगिता में और भी वृद्धि होती।

जैन इतिहास के प्रेरक व्यक्तित्व, भाग-१—लेखक पं. कुन्दन लाल जैन; प्रकाशक—जैन विद्या संस्थान, दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र, श्री महावीर जी—३२२२२०; पृष्ठ ३५; मूल्य ५.०० रु.; प्रथम आवृत्ति १९९५

इस लघुकाय पुस्तिका में अनुसंधित्सु विद्वान लेखक ने जैन इतिहास की ग्यारह विभूतियों—श्री पाहिल्ल श्रेष्ठी, शिल्पी चागद बम्भदेव, गुल्लिकाज्जि, साम्राज्ञी शान्तलादेवी, साहू श्री नेमिचन्द्र, श्री नट्टल साहू, श्री पाड़ासाह, साहू श्री जीवराज पापड़ीवाल, श्री टोडर साहू, कवि श्री राजमल्ल और कवि श्री देवीदास भायजी का संक्षिप्त किन्तु प्रामाणिक परिचय सरल सुबोध भाषा में सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया है। इनमें से कई नाम पढ़ने-सुनने में विचित्र लगते हुए भी अपने समय और परिवेश के अनुरूप हैं। इन व्यक्तियों का कृतित्व जैन धर्मानुयायियों के लिये प्रेरणास्पद है। लेखक और प्रकाशक इस कृति के प्रकाशन के लिये साधुवाद के पात्र हैं।

दूर्वा (संस्कृत त्रैमासिक)—प्रथम वर्ष प्रथम अंक (दिसम्बर १९९४); सम्पादक-श्री राधावल्लभ; प्रकाशक—मध्य प्रदेश संस्कृत अकादमी, भोपाल-४६२००३; पृष्ठ ८६+६; सचित्र; मूल्य आठ रुपये

आजकल के संस्कृत साहित्यकार अपनी रचनाओं के माध्यम से वैज्ञानिक उपलब्धि और प्रौद्योगिक समुन्नति युक्त आधुनिक संस्कृति को प्रतिफलित कर

सकें, इस हेतु मध्य प्रदेश संस्कृत अकादमी ने यह त्रैमासिकी प्रारम्भ की है जिसे त्याग, तपस्या, विनय, सहिष्णुता और पावनता की प्रतीक **दूर्वा** से अभिहित किया है। इस प्रवेशांक में अखिल भारतीय २२ रचनाकारों की रचनाएं समाहित हैं। १६ काव्य, ४ रूपक कथा, १ लोककथा और १ समीक्षात्मक लेख के साथ-साथ साहित्य समीक्षा आदि विविध सामग्री से युक्त यह अंक है। जैसा कि सम्पादक महोदय ने अपने 'रोपणम्' में भी इंगित किया है, प्रस्तुत अंक की रचनाएं आधुनिक विडम्बनाओं पर व्यङ्ग प्रहार करने वाली हैं। संस्कृत के उद्भट विद्वानों द्वारा सरल-सरस भाषा में प्रस्तुत ये व्यंग रचनाएं संस्कृत का अल्पज्ञान रखने वाले पाठकों के लिये भी रसदायी हैं। पत्रिका में दी गई सहयोगी संस्कृत पत्रिकाओं की सूची संस्कृत प्रेमियों के लिये उपयोगी है। इस सरस सुबोध पत्रिका के लिये सम्पादक और रचनाकारों के साथ-साथ अकादमी के सचिव श्री भागचन्द जैन 'भागेन्दु' भी साधुवाद के पात्र हैं।

डा. योगेश चन्द्र जैन, अलीगंज (एटा) की पाँच पुस्तिकाएं—

(१) **परीक्षामुख**—प्रकाशक—सत्साहित्य प्रकाशन एवं प्रचार विभाग, कुन्दकुन्द कहान दि. जैन तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट, ए-४, बापूनगर, जयपुर-१५; अगस्त १९९१; मूल्य पांच रुपये

लगभग १०वीं शती ईस्वी के उत्तरार्द्ध में हुए आचार्य माणिक्यनन्दि के जैन न्याय दर्शन का सूत्र रूप में विवेचन करने वाले **परीक्षामुख** नामक ग्रन्थ की पाण्डित्यपूर्ण व्याख्या छह परिच्छेदों में विद्वान लेखक डा. योगेश चन्द्र ने इस पुस्तिका में की है। जैन न्याय दर्शन के अध्येताओं के लिये पुस्तक उपयोगी है।

(२) **जैन दर्शन में बन्ध-मोक्ष**—पृष्ठ १०३; प्रकाशक—श्री भूपकिशोर स्वाध्याय समिति, मुरार, ग्वालियर; २७ जून, १९८९; मूल्य ४ रुपये

राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर, की एम. ए. संस्कृत परीक्षा में लघु शोध-प्रबन्ध के रूप में प्रस्तुत यह आलेख बन्ध-मोक्ष विषय पर अन्य भारतीय दर्शनों की समीक्षा करते हुए उन की अपेक्षा से जैन दर्शन को प्रतिष्ठित करने वाला है। छह अध्यायों में विषय का विवेचन किया गया है और अन्त में सन्दर्भ-ग्रन्थ सूची दी गई है। यह पुस्तक जैन दर्शन के अध्येताओं के लिये उपयोगी है।

(३) **कौण्डेश से कुन्दकुन्द**—पृष्ठ २८+आवरण; प्रकाशक—श्री कुन्दकुन्द दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंडल ट्रस्ट, नागपुर; शब्द—डा. योगेश चन्द्र जैन; चित्र—श्री त्रिभुवन शंकर बालोठिया

कॉमिक्स (सचित्र कथा) द्वारा आचार्य कुन्दकुन्द की कहानी और उसके माध्यम से जैन धर्म और जैन मुनियों का परिचय बच्चों को देने के उद्देश्य से किया गया यह एक सत्प्रयास है।

(४) **नाटक हो तो ऐसे**—प्रकाशक—मुक्ति प्रकाशन, अलीगंज (एटा)-२०७२४७; आलेख—डा. योगेश चन्द्र जैन; चित्रांकन—श्री त्रिभुवन सिंह यादव; पृष्ठ ३४+आवरण; मूल्य छह रुपये

इस कॉमिक्स में बच्चों के लिये अभिनेता शिरोमणि ब्रह्मगुलाल और स्वर्णकार अंगारक की बोधप्रद कहानियां प्रस्तुत की गई हैं। प्रयास सराहनीय है।

(५) **कुन्दकुन्द-सूक्ति-सुधा**—प्रकाशक—पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, ए-४, बापूनगर, जयपुर-३०२०१५; जनवरी १९९०; पृष्ठ २४+८+आवरण; मूल्य एक रुपया पचास पैसा

प्रस्तुत पुस्तिका में आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों—**पंचास्तिकायसंग्रह, प्रवचनसार, नियमसार, समयसार,** और **अष्टपाहुड** (भावपाहुड, बोधपाहुड, दर्शनपाहुड, शीलपाहुड, चारित्रपाहुड, लिंगपाहुड, सूत्रपाहुड एवं मोक्षपाहुड)-मे संकलित कर ११२ सूक्तियां हिन्दी अनुवाद के साथ दी गई हैं। ये सूक्तियां आचार्यप्रवर की विचारधारा और शाश्वत सत्य को उजागर करने वाली हैं।

मनीषी लेखक डा. योगेश चन्द्र जैन इन पाँचों पुस्तिकाओं के प्रस्तुतिकरण हेतु साधुवाद के पात्र हैं।

— **रमा कान्त जैन**

जैन समाज वर्धा के सौ वर्ष (१८९५-१९९५)—ले. सं. श्री जमनालाल जैन; प्र.-श्री दिगम्बर जैन बोर्डिंग हाउस, वर्धा; मार्च १९९२; पृष्ठ ८४+४, सचित्र

वर्धा यद्यपि एक छोटा स्थान है, महात्मा गांधी के नाम से जुड़ जाने के कारण विश्व-प्रसिद्ध हो गया है। जैन समाज भी वहां बहुत अल्प संख्या में है

परन्तु विगत सौ वर्षों में वहां जितनी संस्थाओं की स्थापना हुई, जितना साहित्य प्रकाशन हुआ और जितने देशभक्त समाजसेवी हुए वह जैनों के किसी भी बहुसंख्या वाले नगर के लिए स्पृहा का विषय हो सकता है। यह जानकर सुखद आश्चर्य हुआ कि श्री दरबारी लाल सत्यभक्त अब ६५ वर्ष की वय में भी स्वस्थ एवं सक्रिय हैं—उनके सम्बन्ध में १९५० के दशक में जाना था। लेखक के क्रान्तिकारी सामाजिक चिन्तन और संघर्ष के विषय में भी इसी पुस्तिका से विशेष जानकारी मिली यद्यपि उनसे परिचय पिछले प्रायः तीन दशक से है।

बारह-भावना (एक सामाजिक चिन्तन)—ले.–श्री जमना लाल जैन; प्र.–शुचिता प्रकाशन, अभय कुटीर, सारनाथ, वाराणसी; पृ. १६; मूल्य दो रुपये

कविवर भूधरदास की **बारह-भावना** को लेखक ने वर्तमान परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में मात्र वैराग्य और नैराश्य का संदेशवाहक न बताकर, उन दोहों का विज्ञानाभिमुख, समाजोपयोगी एवं आशावाद के स्रोत के रूप में निर्वचन किया है। सामाजिक चिन्तन के रूप में यह प्रस्तुतिकरण आधुनिक विचारधारा के अनुरूप है और सहज बुद्धिगम्य है।

उपरोक्त दोनों पुस्तिकाओं के प्रणयन के लिए श्री जमनालाल जी को सादर साधुवाद स्वीकार हो।

देव, शास्त्र और गुरू—ले.–डा. सुदर्शनलाल जैन, प्र.–अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद, १, सेन्ट्रल स्कूल कालोनी, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-२२१००५; फरवरी १९९५; पृ. १४२+६; मूल्य २० रुपये

पुस्तक चार अध्यायों में निबद्ध है। प्रथम अध्याय में देव (अर्हन्त और सिद्ध) का स्वरूप, द्वितीय अध्याय में शास्त्र (आगम ग्रन्थ) का स्वरूप, तृतीय अध्याय में गुरू (साधु) का स्वरूप, और चतुर्थ अध्याय में उपसंहार, दिया गया है। परिशिष्ट में प्रसिद्ध दिगम्बर जैन शास्त्रकारों और शास्त्रों का उल्लेख है, और सहायक ग्रन्थों की सूची है।

लेखक ने बड़े परिश्रम से दिगम्बर आम्नाय में उपलब्ध उपयोगी सामग्री को एक स्थान पर व्यवस्थित किया है। यदि यह पुस्तक श्रावकों को पापश्रमण और सच्चे श्रमण को पहचानने में सहायक हुई, तथा हमारे विद्वान पंडितों ने इस भेद-विज्ञान के यथोचित अनुपालन हेतु समाज को प्रेरित एवं प्रोत्साहित किया तो लेखक का श्रम सार्थक होगा।

जैन श्रमण : स्वरूप और समीक्षा—ले.–डा. योगेश चन्द्र जैन; प्र.–मुक्ति प्रकाशन, अलीगंज (जि. एटा)-२०७२४७; अक्तूबर १९९०; पृ. ३२८; मूल्य बीस रुपये

प्रस्तुत पुस्तक डा. योगेश चन्द्र जैन के राजस्थान विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच. डी. के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध पर आधारित है। श्रमण परम्परा के अन्तर्गत श्रमणत्व और श्रमण के वेश की ऐतिहासिक तथा सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि के सापेक्ष समीक्षा इसमें की गई है। यह पुस्तक परिश्रमपूर्वक की गई शोध पर आधारित है, सरल सुबोध शैली में लिखी गई है और शैली में प्रवाह है ताकि पाठक एक ही बैठक में इसे पढ़ जाने के लिए प्रेरित होता है। वर्तमान में श्रमणों के शिथिलाचार पर लेखक द्वारा निर्भीकतापूर्वक सप्रमाण विवेचन किया गया है जो ग्रन्थ की उपादेयता को बढ़ाता है। इसमें मात्र दिगम्बर मुनि-आर्यिकाओं तक अध्ययन सीमित नहीं है वरन् श्वेताम्बर सम्प्रदाय के साधु समुदाय भी इसकी परिधि में हैं, अतः समग्र जैन श्रमण संस्था का विवेचन इसमें है।

पृ. ५२-६७ पर कल्याण मुनि और चन्द्रगुप्त मौर्य के सम्बन्ध में जो उल्लेख है, वह इतिहास-सम्मत नहीं हैं। कल्याण मुनि नाम के कोई आचार्य-मुनि-जैन साधु नहीं हुए। Kalanos यूनानी साहित्य में उस साधु के लिए प्रयुक्त हुआ है जो 'कल्याणं' कहकर अभिवादन का उत्तर देता था, यह उस साधु का नाम नहीं था (देखें, **शोधादर्श**-१६-१७, पृ. ४८-५३, ५५)। चन्द्रगुप्त मौर्य से श्रवणबेलगोला के शिलालेखों को, जो उससे १००० वर्ष से अधिक बाद के हैं, समीकृत करना काल्पनिक है—उसका कोई प्रामाणिक आधार नहीं है। इन भ्रान्तियों का, और कुछ और भी ऐसी भ्रान्तियों का प्रचलन, उनका शोध किये बिना हो गया था, जिनका परिमार्जन अब अपेक्षित है (देखें, **शोधादर्श**-१९, पृ. ९४-९५)।

नामोल्लेख पूर्वक की गई समीक्षा-शैली के लिए लेखक द्वारा किये गये इस निवेदन से हम सहमत हैं कि "उपगूहन अंग विकारों को सुरक्षित करने की ढाल नहीं बनाया जा सकता है। अतः ऐसों (शिथिलाचारियों) का नामोल्लेख पूर्वक ही उसके चरित्र की समीक्षा होनी चाहिये, हमने वही किया जो एक जागरूक को करना चाहिये। ... यदि सत्य लिखना और कहना अपराध हैं, तो समाज व देश को वे सभी ज्ञान के द्वार विद्यालय बन्द कर देना

चाहिए, जिसमें हम जैसे लोगों को दृष्टि मिलती है। ...यदि दोषों को कहना निंदा हो, तो उन दोषों को निरन्तर करते रहना प्रशंसनीय व पूज्य कैसे कहा जा सकता है?"

आज के संदर्भ में यह भी विचारणीय प्रश्न है कि क्या दिगम्बरत्व प्रासंगिक है और क्या गृहत्याग कर सामान्य गार्हस्थिक एवं सामाजिक–राष्ट्रीय दायित्वों से विमुख होना उपादेय है। अभी समाचार पढ़ा कि एक मधुमती जैन जो विवाहित हैं और किसी विद्यालय में शिक्षण कार्य भी करती हैं तथा मननशील विद्यार्थी होने के परिणाम स्वरूप डॉक्टरेट की उपाधि तक शिक्षित भी हैं, एक आचार्य श्री के प्रभाव में यौवनावस्था में गृह त्याग कर आर्यिका दीक्षित हो गईं। हमारी दृष्टि में यह वैराग्य नहीं वरन् मनोविकार का सूचक है और उनके पतिदेव को उन्हें दीक्षा ग्रहण करने की अनुमति देने के पूर्व उनका किसी कुशल psychiatrist से स्वास्थ-परीक्षण कराना अभीष्ट था।

समय की मांग है कि विद्वत्परिषद और शास्त्री परिषद के साथ ही एक 'श्रमण सुधार परिषद' का भी गठन होना चाहिये जिसका प्रथम मूल सूत्र हो कि विद्यमान श्रमणों के अर्थशौच और शीलशौच तथा उनके कषाय परिणामों का सम्यक् परीक्षण करके उन्हें यदि सदोष पाया जाये तो तत्काल दीक्षा छेद कर गृहस्थ होने के लिए बाध्य किया जाय, दूसरा सूत्र हो कि यदि कोई गृह त्याग कर साधु-साध्वी होने की इच्छा करे तो पहले उसका किसी psychiatrist से स्वास्थ्य परीक्षण करा लिया जाय कि वह किसी मनोव्याधि को तो विरक्ति का पर्याय नहीं मान बैठा है, तथा तीसरा सूत्र हो कि इसका सम्यक् परीक्षण कर लिया जाय कि उसका कोई अपराधिक वृत्त (criminal track record) तो नहीं है।

यह आश्चर्य की बात है कि इस पुस्तक का कोई प्रचार-प्रसार-चर्चा दिगम्बर-श्वेताम्बर-स्थानकवासी-तेरापंथी पत्र-पत्रिकाओं में देखने में नहीं आई। डा. योगेश चन्द्र जैन की यह पुस्तक समाज में जागरूकता लाने की ओर एक उचित कदम है और इसकी प्रेरणा से 'श्रमण सुधार परिषद' का गठन अभीष्ट है।

पत्र-पत्रिकायें :

कुशल-निर्देश—सम्मेत शिखर विशेषांक, व. २२, अंक ९-१०, सित.-अक्तू. ९४, सं.–श्री भंवरलाल नाहटा, प्र.–श्री जिनदत्त सूरि सेवा संघ, १५-ए, लक्ष्मी-नारायण मुखर्जी रोड, कलकत्ता-७०००१६

सम्मेत शिखर विवाद पर श्वेताम्बर सम्प्रदाय का अधिकारिक पक्ष इसमें प्रस्तुत किया गया है। दिगम्बर जैन सम्मेद शिखर आन्दोलन समिति को तथ्यों व आक्षेपों का तथ्यपरक एवं सप्रमाण खुलासा देना चाहिये।

प्रति दिन आर्ट पेपर पर सुन्दर मुद्रित सामग्री जो एक ही व्यक्ति को कई-कई बार भी डाक के माध्यम से प्रेषित की जाती है, अपव्यय की श्रेणी में आता है—यदि यही धन जो इस प्रकार तथोक्त सामग्री के मुद्रण-वितरण, नेताओं के दौरों और रैली व विशाल सभा मंडपों में सुसज्जित सभाओं के आयोजन पर आन्दोलन समिति द्वारा व्यय किया जा रहा है, उससे एक ध्रौव्यनिधि बना दी जाती तो उससे दिगम्बर समाज भी आनन्दजी कल्याणजी पेढ़ी के समान ही शिखरजी के विकास हेतु चाहे तो बिहार सरकार को और चाहे श्वेताम्बर बंधुओं को ही समुचित आर्थिक योगदान देकर अपना समताभाव, तीर्थभक्ति और साधर्मी बन्धुत्व प्रदर्शित कर सकती थी। अब भी इस ओर कदम बढ़ाया जा सकता है।

धर्म मंगल—१६ मई व १६ जून १९९५, सम्पादिका—प्रा. सौ. लीलावती जैन, ४/५, भीकमचन्द जैन नगर, पिपराले रोड, जलगांव-४२५००१

१६ मई के अंक में संपादिका को "समाज प्रबोधनाची दिशा—जैन साध्वी चे देह शोषण कोण जवाबदार ?" में मुनि समुदाय में फैले शिथिलाचार पर निर्भीक विचार प्रकाशन के लिए बधाई ! १६ जून के अंक में उपलब्ध विवरण 'इनको सन्मति दे भगवान' के अन्तर्गत प्रकाशित कर सजग पत्रकारिता के दायित्व का निर्वहन उन्होंने किया है।

ज्ञान शलाका—संपादिका श्रीमती वासंती शहा, गंधकुटी, २१/६ कर्वे रोड, पुणे-४

संपादिका ने मई और जून १९९५ के अकों में पोदनपुर क्षेत्र पर पंचकल्याणक के खिलवाड़ का उद्घाटन किया है कि जब वहां प्रतिष्ठित सभी मूर्तियों की पंचकल्याणक प्रतिष्ठा ३० वर्ष पहले हो चुकी थी और मानस्तंभ की ४ मूर्तियों का पंचकल्याणक भी १९८७ में किया जा चुका था तो अब इन मूर्तियों की पुनः पंचकल्याणक प्रतिष्ठा कराने का कोई औचित्य नहीं है। वास्तव में यह मूर्तियों की अवमानना है, ऐसा हमारा भी मानना है। इस अवसर पर विश्वशान्ति महायज्ञ का आयोजन भी, जैसा कि संपादिका ने बहुत युक्तियुक्त शैली में लिखा है, अपव्यय के अतिरिक्त कुछ नहीं था।

श्रीमती लीलावती जैन और श्रीमती वासंती शहा को निर्भीक पत्रकारिता के लिए बधाई ! अब भी जैन समाज के पुरुष पत्रकार सही बात कहने के लिए प्रेरित हो जायें तो इन दोनों विदुषी महिलाओं का श्रम, विवेक और साहस सार्थक होगा।

— डा० शशि कान्त

समाचार विमर्श

— श्री अजित प्रसाद जैन

शास्त्री परिषद का अधिवेशन

दि. १७ जून को कलकत्ता महानगर में अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन शास्त्री परिषद का वार्षिक अधिवेशन, महासभा अध्यक्ष श्री निर्मल कुमार सेठी के सानिध्य में सम्पन्न हुआ, जिसमें लगभग १५० विद्वानों ने भाग लिया। अधिवेशन में प्राचार्य नरेन्द्र प्रकाश जी ने विधिवत् शास्त्री परिषद की अध्यक्षता ग्रहण की। अध्यक्ष जी ने आगामी पांच वर्षों के लिए श्री जय कुमार जैन को परिषद का नया महामंत्री मनोनीत किया तथा कहा कि कार्यकारिणी का गठन भी शीघ्र ही कर लिया जाएगा।

अधिवेशन में डा. कमलेश कुमार जैन (वाराणसी) को श्री फूलचन्द सेठी स्मृति पुरस्कार, डा. सुपार्श्वकुमार जैन (बड़ौत) को श्री अतर सैन जैन स्मृति शोध पुरस्कार, श्री नरेन्द्र प्रकाश जैन को वर्णी वाग्देवी पुरस्कार, डा. नीलम जैन (सहारनपुर) को श्री चांदमल जैन पांड्या स्मृति पुरस्कार एवं श्री मिश्री लाल जैन एडवोकेट (गुना) को श्री कल्याणचन्द्र पाटनी स्मृति पुरस्कार, से सम्मानित किया गया।

अधिवेशन में महासभा अध्यक्ष श्री सेठी जी ने अपने उद्‌बोधन में महान् मुनि परम्परा पर आए हुए धर्म संकट से रक्षा करने को विद्वानों का आह्वान किया और बताया कि आचार्य श्री सन्मतिसागर जी महाराज के ऊपर जो चारित्रिक दोषारोपण किया गया है जांच करने पर उसे असत्य पाया गया।

(जैन गजट से साभार)

हम शास्त्री परिषद के अधिवेशन में पुरस्कृत सभी विद्वानों को हार्दिक बधाई देते हैं।

शास्त्री परिषद में सभी पदों पर मनोनयन द्वारा नियुक्ति की गई है। हमारी अन्य अ. भा. संस्थाओं में अधिकांशतः यही परिपाटी अपनाई जाने लगी है। ऐसा लगता है कि अब हमारी सामाजिक संस्थाओं से भी लोकतन्त्र उसी प्रकार विदा हो गया है जिस प्रकार वह देश में लोकतन्त्र की रक्षा के लिए लड़ने-मरने के लिए तैयार अधिकांश राजनीतिक दलों के आंतरिक संगठनों से विदा हो गया है। अब हमारी अखिल भारतीय संस्थाओं में प्रायः सभी पदों पर मनोनयन द्वारा ही नियुक्तियां की जाने लगी हैं। परिणाम स्वरूप अधिकांश संस्थाएं केवल प्रस्ताव पास करने वाली संस्थाएं बन कर रह गई हैं, जिनके

कार्यान्वयन के लिए उनके पास उत्साही निस्स्वार्थी कार्यकर्त्ताओं का अभाव हो गया है।

शास्त्री परिषद के इस वार्षिक अधिवेशन के प्रकाशित समाचारों को पढ़ कर हमें कुछ निराशा भी हुई। शास्त्री परिषद के मनोनीत अध्यक्ष प्राचार्य जी ने जैन गजट के दि. १ जून १९९५ के अंक के अपने सम्पादकीय लेख में आचार्य सन्मति सागर प्रकरण को विगत कुछ वर्षों में धर्म पर आया सबसे बड़ा संकट बताया है तथा इधर कुछ वर्षों से कतिपय मुनि संघों में बढ़ते जा रहे आडम्बरों एवं शिथिलाचार पर अंकुश न लग पाने पर अपने मन की सम्पूर्ण व्यथा उड़ेलते हुए क्षोभ व्यक्त किया है कि श्रवणबेलगोला के मुनि अधिवेशन, राजस्थान वैयावृत्ति समिति के बिजौलिया अधिवेशन तथा शास्त्री परिषद के सागर अधिवेशन में लिए गए निर्णयों का आज तक कार्यान्वयन नहीं हो पाया है। हम आशा करते थे कि शास्त्री परिषद आज की परिस्थितियों में और भी अधिक प्रासंगिक हुए अपने सागर अधिवेशन के संकल्प को कम से कम दुहराएगी।

आचार्य सन्मति सागर प्रकरण में यद्यपि महासभा अध्यक्ष ने आचार्य श्री पर लगाए गए दैहिक शोषण के आरोप को असत्य करार दिया है तथापि प्राचार्य जी द्वारा अपने सम्पादकीय लेख में उसे लीपापोती बताने तथा दिगम्बर जैन सम्प्रदाय की सभी अखिल भारतीय संस्थाओं द्वारा जस्टिस जे. डी. जैन की अध्यक्षता में जांच आयोग गठित किए जाने के कारण इस विषय में सम्पूर्ण सत्य उद्घाटित होना अभी शेष है जो जांच आयोग की रिपोर्ट के बाद ही कदाचित् संभव हो पाएगा। [सुना गया है कि मामला महिला आयोग में पहुँच गया है। इसे अब राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय संचार माध्यमों द्वारा भी बखूबी चर्चित किया जा रहा है।]

इस बीच दि. १० जून को बाराबंकी में एक समारोह में अपने उद्बोधन में आचार्य श्री पुष्पदन्त सागर महाराज ने पहल करते हुए श्रमण संघों में बढ़ते जा रहे शिथिलाचार की प्रभावी रोकथाम के लिए तथा आचार्य सन्मति सागर जी पर लगाए गए प्रणित आरोपों की संभावना को ही समूल नष्ट करने के उद्देश्य से निम्नलिखित सुझाव मुनि संघों को दिए हैं जो स्वागत योग्य हैं—

(१) भविष्य में ऐसी घटना न घटे, इसके लिए मुनि संघ एवं आर्यिका संघ अलग-अलग रहें। मुनि संघों में आर्यिकाएं, छुल्लिकाएं, ब्रह्मचारिणी

बहनें न रहें। इसी प्रकार आर्यिकाओं के साथ छुल्लक, ऐलक या ब्रह्मचारी न रहें, उन्हें तुरन्त पृथक किया जावे।

(२) किसी भी दिगम्बर साधु, आर्यिका, ऐलक, छुल्लक या छुल्लिका को समाज दान में धन न देवे।

(३) तीर्थ क्षेत्रों एवं संस्थाओं के चुनाव में साधु या आर्यिका अपनी अहम भूमिका न निभावें, अर्थात् संस्था या क्षेत्र का चुनाव न करावें।

(४) साधु द्वारा संस्थापित संस्था के पदाधिकारियों को हटाया जावे व नया चुनाव कराया जावे।

(५) जिन तीर्थों या संस्थाओं की सम्पत्ति पर किसी साधु या आर्यिका का एक छत्र अधिकार है वह यदि यह घोषणा करे कि उसके पदों पर उनके परिवार का व्यक्ति नहीं बैठेगा तो उस साधु को निर्दोष घोषित कर दिया जावे।

(६) देव-शास्त्र-गुरू के आगमनिष्ठ व्यक्ति जिनका आचरण सही हो उन्हें ही तीर्थ एवं मन्दिरों के पदों पर बिठाया जावे।

(७) मुनि एकलविहारी न हों, कम-से-कम दो मुनि हों।

(८) किसी को भी मुनि/आर्यिका दीक्षा आते ही नहीं दी जावे। उसे पहले कसौटी पर तोला जावे तभी उसके हाथों में दीक्षा का हीरा सौंपा जावे।

(९) कोई भी साधु एकान्त में बैठकर मंत्र-तंत्र न दे। यह व्यापार बंद हो।

(१०) साधु के पास एकान्त में महिला न जावे।

(११) कोई भी साधु/आर्यिका तीर्थों पर अपना नाम न लिखावें।

अब चातुर्मास प्रारम्भ हो गया है तथा सभी त्यागी वृन्द चार मास के लिए एक ही नगर, ग्राम, बस्ती या तीर्थक्षेत्र पर स्थिरावास कर रहे हैं। क्या हम शास्त्री परिषद के माननीय अध्यक्ष जी से अपेक्षा करें कि शास्त्री परिषद से जुड़े विद्वत्जनों को निर्देश देंगे कि वे विभिन्न संघों में जाकर कम से कम एक दिगम्बर आचार्य द्वारा प्रस्तावित इस न्यूनतम आचार संहिता का पालन सुनिश्चित करावेंगे तथा स्वयं प्राचार्य जी भी जहां-जहां संभव हो जाकर मुनि संघों को इसके लिए प्रेरित करेंगे ?

स्थानकवासी समाज के अनुकरणीय निर्णय

दि. १२ मार्च को नन्दी हिल्स (बंगलौर) में सम्पन्न कर्नाटक प्रदेशीय स्थानकवासी श्रावक सम्मेलन में सर्वसम्मति से निम्नलिखित कुछ महत्त्वपूर्ण निर्णय लिये गए :—

(१) धार्मिक आयोजनों में सम्मान सूचक प्रतीक चिन्ह एवं माला-शाल आदि स्वीकार न किए जायें।

(२) समाज सुधार के लिए किसी भी मांगलिक अवसर पर केवल रु. ११/- ही, लिए-दिए जायें।

(३) विवाह आदि मंगल अवसरों पर व्यंजनों की असीमित संख्या पर रोक लगाई जाय एवं जमीकन्द का प्रयोग नहीं किया जाय।

(४) समाज में वर-वधु पक्षों द्वारा सामुहिक आशीर्वाद समारोह व स्नेह भोज करके खर्च में अर्थ भार से बचा जाय।

(५) निर्बाध रूप से साधु-साध्वी वृन्द के संयम पलवाने में सहयोग किया जाये।

हम आशा करते हैं कि कर्नाटक प्रदेशीय स्थानकवासी समाज उपरोक्त निर्णयों का कठोरता पूर्वक अनुपालन भी सुनिश्चित करेगी, तभी इनका सुफल समाज को प्राप्त होगा। ये निर्णय जैन समाज के सभी सम्प्रदायों द्वारा सर्वत्र अनुकरणीय हैं। विगत कुछ वर्षों से अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन परिषद ने "दिन में विवाह, दिन में फेरे" का अभियान चलाया हुआ है जिससे निश्चय ही शादी-ब्याह के अनावश्यक व्यय में कमी आती है। किन्तु इस अभियान का प्रभाव अभी तक सीमित क्षेत्र में ही पड़ा है।

आजकल जैन समाज के सभी सम्प्रदायों के साधु-साध्वियां किसी न किसी नगर, ग्राम, बस्ती या तीर्थ क्षेत्र में वर्षायोग की स्थापना करके चार मास के लिए स्थिरावास कर रहे हैं। जहां-जहां चातुर्मास हो रहे हैं वहां निश्चय ही धार्मिक वातावरण में अभिवृद्धि हो रही है। नित प्रति किसी न किसी पूजा विधान व धार्मिक अनुष्ठान होते रहने तथा उन महान् आत्माओं के प्रवचन का समागम होने से श्रावकों में धार्मिक रुचि का उद्रेक होना स्वाभाविक ही है। किन्तु हमारे पूजनीय मुनिराज-आर्यिका माताएं तथा अन्य त्यागीजन अपने प्रवचनों में उपरोक्त सामाजिक सुधारों पर बल दें और श्रावकों से उनके अनुपालन का संकल्प करावें तो समाज सुधार का कार्य बहुत कुछ सरल हो जायगा। आजकल हमारे समाज के मध्यम एवं विपन्न वर्ग को दहेज का अभिशाप कैंसर के रोग की तरह खोखला करता जा रहा है। यदि हमारे पूज्य मुनिराज-आर्यिका माताएं अपने प्रवचनों में दहेज विरोध पर बल दें, अविवाहित युवक-युवतियों से तथा उनके अभिभावकों से दहेज विरोधी संकल्प करावें, और आहार दान में ऐसे संकल्प पत्र ही लें तो इस समस्या से जूझना मुश्किल नहीं रह जाएगा।

महँगे चातुर्मास

आजकल एक मुनिराज-आर्यिका माता के चातुर्मास का व्यय लाखों में आता है। इस प्रयोजन के लिए स्थायी या अस्थायी चातुर्मास समिति का गठन किया जाता है जिसके माध्यम से समस्त व्यय की व्यवस्था की जाती है। वर्षायोग स्थापना के सूचना-पत्र को महंगे ग्लेज्ड आर्ट पेपर पर बड़े-बड़े पोस्टरों के रूप में छपवा कर हजारों की संख्या में वितरित कराने के साथ प्रारम्भ होता है चातुर्मास का कार्यक्रम। हमारे सामने ऐसी ही एक मुनिराज के वर्षायोग स्थापना की निमन्त्रण पत्रिका है जो सुन्दर ग्लेज्ड आर्ट पेपर पर दो रंगों में बड़े आकार के पोस्टर के रूप में छपवायी गयी है। इसमें मुनि-श्री, उनके गुरू आचार्य श्री तथा संघस्थ त्यागी वृन्द के भव्य रंगीन चित्र छपे हैं, तथा इसकी डिजाइनिंग अहमदाबाद की डिजाइनर्स की एक विख्यात फर्म द्वारा की गयी है। इस पत्रिका का लागत मूल्य २५-३० रु. से कम नहीं होगा। यदि मुनि-श्री की प्रेरणा या मौन सहमति ऐसी महंगी पत्रिका छपवाने की रही तो कोई आश्चर्य नहीं। हमने कई मुनिराजों को गत चातुर्मास की पत्रिका दिखाकर कहते सुना है "कि अमुक नगर की समाज ने तो यह पत्रिका छपवाई थी। आप जैसी चाहो छपवाओ।" जाहिर है कोई समाज किसी दूसरे नगर की समाज से भक्ति प्रदर्शन में पीछे नहीं रहना चाहती। कुछ सयम बाद इन महंगी सचित्र निमन्त्रण पत्रिकाओं की अन्तिम परिणति रद्दी की टोकरी ही होती है जिससे पूज्य त्यागी जनों की घोर अवमानना होती है।

हाल ही में एक स्थानकवासी आचार्य प्रमुख ने अपने अनुयायियों को निर्देश दिया है कि उनके आज्ञानुवर्ती साधु-साध्वियों की चातुर्मास पत्रिका सादे कागज पर, इनलैंड या पोस्टकार्ड पर ही बिना किसी चित्र के छपवाई जावे, चातुर्मास में बाहर से दर्शनार्थ आए श्रावकों के लिए शुद्ध भोजन की व्यवस्था तो अवश्य की जावे पर वह सशुल्क हो, तथा चातुर्मास के प्रारम्भ या समाप्ति के अवसर पर या बीच-बीच में प्रभावना के नाम पर सामुहिक प्रीतिभोजों की व्यवस्था न की जाय।

यदि उपरोक्त निर्देशों को समस्त जैन समाज अपना ले तो निश्चय ही हमारे त्यागी महात्माओं के चातुर्मास पर होने वाले व्यय में भारी कमी हो जाएगी, मध्यम स्थिति के कम संख्या वाले समाज भी किसी मुनिराज या आर्यिका माता का चातुर्मास अपने ग्राम वा नगर में कराने में अपना अहोभाग्य

समझेंगे तथा "जैन साधु कितने महंगे" कह कर उपहास करने वाले आलोचकों का मुंह बन्द हो जाएगा।

श्री मानतुंगाचार्य की चरण-पादुका

दि. ३ जून को मध्य प्रदेश में इंदौर के समीप धार नगरी में मानतुंगगिरि पर भगवान आदिनाथ की प्रतिमा की स्थापना तथा श्री मानतुंगाचार्य की चरण-पादुका विराजमान करने का कार्य आचार्य श्री भरत सागर महाराज के चरण-सानिध्य में मध्य प्रदेश महासभा के अधिवेशन के साथ सम्पन्न हुआ।

अमर भक्ति काव्य आदिनाथ स्तोत्र (अपरनाम भक्तामर स्तोत्र) के रचयिता आचार्य श्री मानतुंग स्वामी के नाम पर विकसित किया जाने वाला यह नवोदित तीर्थक्षेत्र है। किंवदंती है कि धारा नगरी के राजा भोज द्वारा ४८ तालों के बन्दीगृह में बन्दी किए जाने पर आचार्य श्री ने इस अमर काव्य की रचना की थी जिसके प्रभाव से बन्दीगृह के ताले प्रत्येक श्लोक की समाप्ति पर एक-एक कर टूटते गए थे। भक्तामर काव्य के रचयिता मानतुंगाचार्य की स्मृति में मानतुंगगिरि को नए तीर्थ के रूप में विकसित करना उचित ही है, किन्तु हमारी अल्पबुद्धि में आचार्य श्री की चरण-पादुका विराजमान करने की तुक समझ में नहीं आती जब कि लघुतम श्रेणी का दिगम्बर जैन साधु भी चरणों में पादुका धारण नहीं करता। मुनियों की चरण-पादुकाएं विराजमान करने की परिपाटी श्रवणबेलगोला के महाविद्वान भट्टारक स्वामी कर्मयोगी जगत्गुरू चारुकीर्ति जी ने इस युग के प्रथम दिगम्बर जैनाचार्य श्री शान्ति सागर महाराज की स्वर्ण-पादुकाओं का उनके समाधि स्थल पर विराजमान कराने हेतु निर्माण कराकर प्रदान करने के साथ प्रारम्भ की और अब तो कई अन्य दिवंगत आचार्यों की चरण-पादुकाएं विराजमान किये जाने के समाचार पढ़ने में आए हैं। भट्टारक जी स्वयं चरण-पादुकाओं का प्रयोग करने के कारण अपनी तथा अपने दिवंगत भट्टारक गुरूओं की चरण-पादुकायें अपने मठ के वैभव के अनुसार स्वर्ण या रजत आदि की विराजमान करावें तो उचित ही है पर जिन दिगम्बर गुरू चरणों ने कभी पादुका की सुविधा का उपयोग नहीं किया हमारी दृष्टि में उनकी चरण-पादुकाएं विराजमान करना उन गुरू चरणों की अविनय करना है।

——

अभिनन्दन

जैन विद्या संस्थान, श्री महावीर जी, द्वारा वर्ष ९४ का महावीर पुरस्कार डॉ. आराधना जैन (विदिशा) को उनकी कृति "जयोदय महाकाव्य का शैली वैज्ञानिक अध्ययन" पर महावीर जयन्ती के अवसर पर प्रदान किया गया।

अहिंसा इन्टरनेशनल, नई दिल्ली, द्वारा पशु रक्षा एवं पर्यावरण पर राष्ट्रीय सम्मेलन में ७ मई को साहित्य के क्षेत्र में विशिष्ट योगदान के लिए डॉ. सागरमल जैन, निदेशक पार्श्वनाथ शोध संस्थान, वाराणसी को "अहिंसा इन्टरनेशनल डिप्टीमल जैन पुरस्कार", प्रदान किया गया तथा जीव रक्षा एवं शाकाहार प्रसार कार्य के लिए समर्पित कार्यकर्ताओं—श्री लक्ष्मी नारायण मोदी, नई दिल्ली, श्री केशरी चन्द मेहता, मालेगांव, श्री श्रीपाल जैन "दिवा", भोपाल, एवं श्री सुखलाल गोलेच्छा "सुमन" जैन, राजनाद गांव, को सम्मानित किया गया।

अ. भा. दि. जैन विद्वत्परिषद् द्वारा आयोजित निबन्ध प्रतियोगिता में 'कर्म सिद्धान्त की वैज्ञानिकता' पर कु. अञ्जली जैन, लखनऊ, कु. सविता अस्थाना, वाराणसी, श्री सुलतान सिंह जैन, रुड़की, और पं. निहालचन्द्र जैन, बीना, को, 'जैन धर्म में प्रचलित धार्मिक क्रियाओं की वैज्ञानिकता' पर श्रीमती लक्ष्मी जैन, कटनी, सौ. कान्ता जगदीश संगई, सावकारपूरा (अमरावती), श्री संजय पुजारी, खनियाधाना, और डॉ. सुमति प्रकाश जैन, छतरपुर, को, 'आधुनिक युग में जैन धर्म पालन करने की सरल विधि' पर श्री नरेश कुमार जैन, कोटा, श्री सुरेशचन्द जैन, दमोह, सौ. मीनाक्षी सुभाषचन्द्र शहा, सोलापुर, और सौ. मीना किरणकुमार गरीबे (जैन), अकोला, को तथा 'यदि मैं देश का प्रधानमन्त्री होता तो जैन धर्म का विस्तार ऐसे करता' पर कु. रेखा जैन, खड़गपुर, श्री मनीष जैन अकलंक, जयपुर, सौ. जया मोहनलाल भंडारी, दौण्ड (पुणे), और श्री अजित कुमार जैन, बड़ागांव (धसान), को पुरस्कार का पात्र घोषित किया गया।

अनेकान्त के सम्पादक पं. पद्मचन्द्र शास्त्री को श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभा पश्चिम बंगाल समिति द्वारा जैन साहित्य पर किये गये उल्लेखनीय कार्यों के प्रति आचार्य वर्द्धमान सागर पुरस्कार से सम्मानित किया गया, और ६ जुलाई को दरियागंज, नई दिल्ली, में जैन सीनियर सैकण्डरी स्कूल में उनका सार्वजनिक अभिनन्दन किया गया।

३ जून को स्वामी सत्यभक्त जी की अध्यक्षता में वर्धा के लोकप्रिय कर्मठ समाजसेवी श्री मूलचंद बड़जाते का ७२वें जन्मदिन पर वर्धावासियों द्वारा अभिनन्दन किया गया और उन्हें "समाजभूषण" अलंकरण से सम्मानित किया गया।

उपरोक्त सभी महानुभावों का **शोधादर्श** परिवार अभिनन्दन करता है और उन्हें अपनी शुभकामना प्रेषित करता है।

समाचार विविधा

भारतीय संस्कृति और साहित्य में जैन धर्म का योगदान–संगोष्ठी—अ. भा. दि. जैन विद्वत्परिषद् द्वारा इलाहाबाद में १५-१७ अप्रैल, १९९५, को उपरोक्त संगोष्ठी आयोजित की गयी। संगोष्ठी का उद्घाटन एवं प्रथम सत्र प्रभाष गिरि तीर्थक्षेत्र (कौशाम्बी) में और द्वितीय एवं तृतीय सत्र जैन विद्यालय, प्रयाग, में सम्पन्न हुए। समापन समारोह हिन्दी साहित्य सम्मेलन के "राजर्षि मण्डपम्" में हुआ।

समापन समारोह की अध्यक्षता इलाहाबाद के पूर्व मेयर श्री श्यामाचरण गुप्त ने की। मुख्य प्रवक्ता प्रो. खुशालचन्द्र जी गोरावाला ने विद्वत्परिषद् का ऐतिहासिक योगदान बतलाते हुए प्राग्वैदिक श्रमण संस्कृत की विशेषताओं को उद्घाटित किया।

संगोष्ठी के प्रथम सत्र की अध्यक्षता डॉ. कस्तूरचन्द कासलीवाल (जयपुर) ने की और संयोजन डॉ. प्रेमचन्द जैन (इलाहाबाद) ने किया। द्वितीय सत्र की अध्यक्षता डॉ. शीतलचन्द जैन (जयपुर) ने की और संयोजन श्री निर्मलचन्द जैन (सतना) ने किया। तृतीय सत्र की अध्यक्षता डॉ. लाल चन्द जैन (वैशाली) ने की और संयोजन डॉ. नेमिचन्द जैन (खुरई) ने किया। अन्त में धन्यवाद ज्ञापन मन्त्री डॉ. सुदर्शन लाल जैन ने किया।

संगोष्ठी में निम्नलिखित निबन्धों का वाचन किया गया :—

प्रथम सत्र : इतिहास और संस्कृति—प्रो. खुशालचन्द्र गोरावाला : वेदों में उल्लिखित वैद-पूर्व जन : श्रमण, श्री निर्मल जैन : भगवान् आदिनाथ, प्रो. जगदीश गुप्त : नागोपासना की परम्परा और नाग छत्रधारी तीर्थंकर पार्श्वनाथ, डॉ. सुदर्शनलाल जैन : जैन श्रमण संस्कृति की प्राचीनता और वैदिक संस्कृति, श्रीमती निधि जैन : भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान।

द्वितीय सत्र : धर्म, नीति एवं विचार — डॉ. आनन्दप्रकाश त्रिपाठी : जैन नीतिशास्त्र, डॉ. लालचन्द्र जैन : गृहस्थाचार की विशेषताएं, डॉ. शीलचन्द्र जैन : भारतीय संस्कृति को जैन व्रतों और पर्वों का योगदान, डॉ. अनूपचन्द्र न्यायतीर्थ : राजस्थान जैनतीर्थ, डॉ. कमलेश कुमार जैन : निर्ग्रन्थ परम्परा में धर्म का स्वरूप, डॉ. प्रेमचन्द्र रांवका : राष्ट्र के सांस्कृतिक विकास में जैनधर्म का योगदान।

तृतीय सत्र : काव्य, कला और अलंकार—डॉ. महेन्द्र राजा जैन : जैन कला, श्रीमती कामिनी पुरवार : जैन अलङ्कार शास्त्र, डॉ. नेमिचन्द्र जैन : जैन स्तोत्र साहित्य/श्रावकाचार, डॉ. कमलेशकुमार जैन : हित सम्पादक में वर्णित कतिपय सामाजिक समस्यायें, डॉ. मालती जैन : हिन्दी रासो साहित्य में जैन कवियों का योगदान, डॉ. फूलचन्द्र जैन 'प्रेमी' : जैन साहित्य और उसकी विशेषताएं, डॉ. कस्तूरचन्द्र कासलीवाल : भट्टारक शुभचन्द्र की मूक अर्चचित दार्शनिक कृति, श्री प्रेमचन्द जैन : भारतीय संगीत में जैन मुनियों का योगदान।

महावीर पुरस्कार—वर्ष १९९५ के 'महावीर पुरस्कार' के लिए जैनधर्म, दर्शन, इतिहास, साहित्य, संस्कृति आदि से सम्बन्धित किसी भी विषय की पुस्तक/शोधप्रबन्ध की चार प्रतियां दिनांक ३० सितम्बर, १९९५ तक आमंत्रित हैं।

नियमावली तथा आवेदन का प्रारूप जैन विद्या संस्थान के कार्यालय (दिगम्बर जैन नसियाँ भट्टारकजी, सवाई रामसिंह रोड, जयपुर-३०२००४) से प्राप्त करें।

स्वयंभू पुरस्कार—अपभ्रंश साहित्य अकादमी, जयपुर, के वर्ष १९९५ के "स्वयंभू पुरस्कार" के लिए अपभ्रंश साहित्य से सम्बन्धित विषय पर हिन्दी अथवा अंग्रेजी में रचित रचनाओं की चार प्रतियाँ ३० सितम्बर, १९९५ तक आमन्त्रित हैं।

नियमावली तथा आवेदन का प्रारूप अकादमी कार्यालय (दिगम्बर जैन नसियाँ भट्टारकजी, सवाई रामसिंह रोड, जयपुर-३०२००४) से प्राप्त करें।

पत्राचार अपभ्रंश सर्टिफिकेट पाठ्यक्रम—दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीर जी द्वारा संचालित अपभ्रंश साहित्य अकादमी द्वारा 'पत्राचार अपभ्रंश सर्टिफिकेट पाठ्यक्रम' का चौथा सत्र १ जनवरी, १९९६ से आरम्भ किया जा रहा है। हिन्दी एवं अन्य भाषाओं/विषयों के प्राध्यापक, अपभ्रंश–शोधार्थी

एवं संस्थानों में कार्यरत विद्वान इसमें सम्मिलित हो सकेंगे। नियमावली एवं आवेदनपत्र दिनांक १५ सितम्बर, १९९५ तक अकादमी कार्यालय (दिगम्बर जैन नसियाँ भट्टारकजी, सवाई रामसिंह रोड, जयपुर-३०२००४) से प्राप्त करें।

आभार

श्री जीवन कुमार जैन पांड्या की मातेश्वरी श्रीमती नत्थीबाई के स्वर्ग-वास के समय उत्सर्ग दान राशि में से ५०/- की भेंट, श्री सत्यंधर कुमार सेठी, उज्जैन, के माध्यम से **शोधादर्श** को प्राप्त हुई।

श्री ताराचन्द्र जैन, पचेवर, ने अपने पिता श्री पांचूलाल जैन की ११वीं पुण्य तिथि पर ११/- की भेंट **शोधादर्श** को प्रदान की।

श्री प्रमोद कुमार शाह, पचेवर, ने अपने पिता श्री सोहन लाल शाह की पुण्य स्मृति में ५१/- की भेंट **शोधादर्श** को प्रदान की।

डॉ. ज्योति प्रसाद जैन की पुण्य तिथि पर साहित्यिक गतिविधियों में योगदान हेतु उत्सर्ग राशि में से ज्योति प्रसाद जैन ट्रस्ट द्वारा ५०/- की भेंट **शोधादर्श** को प्रदान की गई।

उपरोक्त महानुभावों/संस्था के प्रति **शोधादर्श** आभारी है।

शोक संवेदन

१० अप्रैल, १९९५, को भारत के भूतपूर्व प्रधानमंत्री, ९९ वर्षीय, श्री मोरारजी देसाई का देहान्त हो गया।

२२ मई को आगमिक ग्रन्थों के विवेचक, ७९ वर्षीय, श्री पूर्णानन्द विजय 'कुमार श्रमण' का थाणा में देहावसान हो गया।

१ जून को नई दिल्ली में मूर्धन्य विद्वान, समाजसेवी और अ. भा. दि. जैन शास्त्री परिषद के पूर्व अध्यक्ष, ८३ वर्षीय, डॉ. लालबहादुर शास्त्री का देहान्त हो गया।

२७ जून को बाराबंकी में सरलपरिणामी सुश्रावक, ७० वर्षीय, श्री प्रेमचन्द जैन का निधन हो गया।

१३ जुलाई को कलकत्ता में ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित सुप्रसिद्ध बंगला साहित्यकार, ८७ वर्षीय, श्रीमती आशापूर्णा देवी का निधन हो गया।

शोधादर्श परिवार उपरोक्त को अपनी विनीत श्रद्धांजलि अर्पित करता है, दिवंगत आत्मा की सद्गति और शान्ति के लिए प्रार्थना करता है और शोक संतप्त परिवारों के प्रति अपनी हार्दिक संवेदना व्यक्त करताहै।

पाठकों की दृष्टि में

आपका **शोधादर्श** हमें नियमित रूप से प्राप्त होता है और प्राप्त होते ही आपके स्व. पिताजी स्वनामधन्य मूर्धन्य जैन इतिहासविद् विद्वद्वर्य डॉ. ज्योति प्रसाद जी का स्मृति चित्र सहसा सामने आ जाता है—जिनसे हमारा प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से आत्मीय सम्बन्ध रहा है।

शोधादर्श हमें नियमितरूपेण प्राप्त होता ही है, साथ ही इसे हम आद्योपान्त प्राप्त होते ही (व्यवस्तता के बीच में भी) अवश्य पढ़ लेते हैं। आप बंजड़ भूमि में हल चला रहे हैं—उर्वरक बनाने में कठिनाई तो अवश्य होगी ही। बंजड़ भूमि को खेती योग्य बनाना कितना कठिन कार्य है यह तो आप जानते ही हैं।

-- ज्ञानयोगी स्वस्ति भट्टारक चारुकीर्ति पण्डिताचार्यवर्य स्वामी जी
मूडबिद्री

वास्तव में **शोधादर्श** में कई लेख ऐसे रहते हैं जो समाज के लिये आत्म-निरीक्षण का कार्य करते हैं। पंचकल्याणक के संबंध में आपके विचार वास्तव में सही हैं। आज इतनी प्रतिष्ठायें होने के बाद भी समाज के जीवन में कोई परिवर्तन नहीं आता है। चारित्रिक सम्पत्ति गिरती ही जाती है। समाज में इस समय क्रान्तिकारी परिवर्तन आवश्यक है जिसकी पूर्ति **शोधादर्श** जैसा निर्भीक पत्र ही कर सकता है।

— श्री सत्यंधर कुमार सेठी
प्रधान संचालक, अखिल विश्व जैन, उज्जैन

शोधादर्श बराबर मिलता है। शिथिलाचार पर आपकी चिन्ता में सहभागी हूँ किन्तु इस पर नियन्त्रण कैसे हो, समझ में नहीं आता। जब तक समाज में स्वार्थ, अंधविश्वास और ग्रुपबन्दी रहेगी, तब तक उसमें कमी आना भी सम्भव नहीं दिखता। फिर अब तो सारी सीमायें टूट रही हैं। स्थिति अत्यन्त लज्जाजनक है। बात अनाचार तक पहुँच गई है।

शोधादर्श आप परिश्रमपूर्वक निकाल रहे हैं। कुछ बिन्दुओं पर असहमति के बाद भी मैं इसका प्रशंसक हूँ।

— प्राचार्य नरेन्द्र प्रकाश जैन
अध्यक्ष, अ.भा.दि. जैन शास्त्री परिषद, फिरोजाबाद

'रजत पुष्प' के लिये बधाई स्वीकार करें। सन्मति सागर प्रकरण बहुत उछल रहा है। ऐसे नासूर की तुरन्त शल्य चिकित्सा होना नितान्त आवश्यक है। अभी सहारनपुर में विज्ञान संगोष्ठी के अवसर पर इसकी चर्चा आई थी। कुछ लोग इस प्रकरण को दबा देने के पक्ष में हैं पर ऐसे शिथिलाचार को सरलता से नहीं छोड़ना चाहिये।

— श्री कुन्दन लाल जैन
अ. प्रा. प्रिन्सिपल, शाहदरा, दिल्ली

When I look behind an interval of three decades, I find one of the most brilliant stars in the heavens of history in Jaina culture. He was your father who paved the way to deeper researches and created a heritage for the community and for you in particular. And this mission is being successfully operated and carried over by **Shodhadarsha.**

— Prof. L. C. Jain
Jabalpur

इस अंक में महत्वपूर्ण लेखों के साथ सामाजिक प्रवृत्तियों का भी आपने बड़े सुन्दर ढंग से दिग्दर्शन कराया है। साहित्य-सत्कार जैसे शीर्षकों द्वारा सधी लेखनी से सभी बिन्दुओं पर विमर्श किया है। **शोधादर्श** निश्चय ही जैन पत्रों के लिये एक आदर्श पत्र है। इससे पत्रकारिता की शिक्षा भी मिलती है।

अब ८४वां वर्ष इसी १४ जून को समाप्त हो रहा है और वार्धक्य बढ़ रहा है। क्षीण शक्ति भी अपने को अनुभव करता हूँ। मैं आपके सुन्दर सम्पादन के लिये मंगलकामनायें करता हूँ।

— वयोवृद्ध लब्ध-प्रतिष्ठ विद्वान् डॉ. दरबारी लाल कोठिया
बीना (जि. सागर)

Shodhadarsha (Silver Jubilee Number) has come out with rich contents.

I am happy that you have kept up the torch of higher research, set long back by the great scholar Dr. Jyoti Prasad Jain.

— Dr. B. K. Khadabadi
Retd. Prof. of Jainology, Mysore University, Sankeshwar

पत्रिका उपयोगी ही नहीं, हर मायने में संग्रहणीय भी है। इसमें अभी तक छपे लेखों की जो सूची प्रकाशित की है, वह शोधकर्ताओं के लिये काफी उपयोगी होगी। धर्म, इतिहास, विज्ञान, पर्यावरण तथा दर्शन से सम्बन्धित रचनायें संभवत: एक ही स्थान पर मिल जायें, यह इस पत्रिका की विशेषता है। कहने का अर्थ है कि **शोधादर्श** का २५वां अंक हर तरह से उपयोगी है। "जैन धर्म बिकाऊ है" जैसे लेख छापकर आपने इस धर्म में घुस आये आडम्बरों आदि पर करारी चोट की है।

— डॉ. विनोद कुमार तिवारी
रीडर, इतिहास विभाग, यू. आर. कालेज, रोसड़ा

शोधादर्श का रजत पुष्प (२५वां अंक) देख कर मन आह्लादित हो गया। उत्तरोत्तर उत्कर्ष प्राप्त करते हुए **शोधादर्श** ने अब एक निश्चित स्वरूप प्राप्त कर लिया है। विषयों की निर्धारित सीमा में इस स्तर की पत्रिका का प्रकाशन वस्तुत: दुष्कर कार्य है जिसे आप सफलतापूर्वक सम्पादित कर रहे हैं।

— डॉ. अशोक कुमार कालिया
रीडर, संस्कृत एवं प्राकृत विभाग, ल. वि. वि., लखनऊ

आपके तथा आपके सहयोगियों की लगन और जीवट का ही फल है कि **शोधादर्श** रौप्यमहोत्सवां के रूप में प्रकाशित हुआ और अपने पूर्व निर्धारित स्तर को अक्षुण्ण रखने में समर्थ रहा। यही क्रम आगे भी चलता रहे, यही कामना है।

— डॉ. नीलकण्ठ पुरुषोत्तम जोशी
अ. प्र. निदेशक, राज्य संग्रहालय, लखनऊ; वाराणसी

इस अंक में और अन्य अंकों में आधुनिक समस्याओं से संबंधित लेखों का प्रकाशन अत्यन्त रोचक और महत्त्वपूर्ण है। इसी अंक में 'पंचकल्याणकों' पर दिये गये लेख नयी पीढ़ी को नयी दिशा में प्रवृत्त होने के लिये प्रेरित करें, यही कामना है। **शोधादर्श** के 'समाचार विमर्श' सदैव इक्कीसवीं सदी की ओर जाने के लिये विभिन्न घटनाओं/समस्याओं के लिये मार्गनिर्देश देते रहे हैं। आपका पत्र 'शोधादर्श' के साथ-साथ 'समीक्षादर्श' भी है। ऐसे प्रेरक पत्र के प्रकाशन के लिये मेरा साधुवाद। यह दूज के चन्द के समान वर्धमान प्रतिष्ठा एवं स्थायित्व को प्राप्त करे, यही मेरी कामना है।

— डॉ. नन्द लाल जैन
निदेशक, जैन केन्द्र, रीवां

शोधादर्श (रजत पुष्प) अपना अनुपम स्थान रखता है। आरंभ से अब तक की प्रकाशन सूची का इसमें अपना विशेष महत्त्व है। शोधकर्ताओं के शोध सारोश की प्रतिष्ठा जितनी **शोधादर्श** में दर्शनीय है उतनी अन्यत्र नहीं। शोधार्थी एवं शोधकर्ता दोनों के लिये **शोधादर्श** की सामग्री विशेष रूप से उपयोगी है। वास्तव में यह शोध पत्र पठनीय है, संग्रहणीय है। सम्पादकीय में तटस्थता और निर्भीकता एवं वस्तुस्थिति का निरूपण दर्शनीय है।

— डॉ. रत्न लाल जैन
हांसी

शोधादर्श ने निकट भविष्य में अच्छा गौरवमय स्थान बना लिया—जैन समाज के लिये यह सौभाग्य का प्रश्न है। जिसे आपने इस लोकोत्तर पत्र से समाधान कर दिया। इसे आप कम से कम द्विमासिक कर सकें तो ज्यादा कीर्तिमान होगा, मेरी भावना है।

— पं. विमल कुमार जैन सौरैया
सम्पादक, वीतराग वाणी, टीकमगढ़

इस बार का **शोधादर्श** आद्योपांत पढ़ गया। आपने वर्तमान में साधुवर्ग में फैल रहे शिथिलाचार एवं प्रसिद्धि के मोह का जो पर्दाफाश किया है वह स्तुत्य है। लगता है कि बिके हुए सेठ-पंडितों की आँख अब पत्रकार ही खोलेंगे—क्योंकि हमें किसी लिफाफे की दरकार नहीं।

मुनियों को गृहस्थों से अधिक प्रतिष्ठा, छपास, आश्रम बनाने का रोग लग गया है। अपनी ढपली अपना राग आलाप रहे हैं।

— डॉ. शेखर चन्द्र जैन
सम्पादक, तीर्थंकर वाणी, अहमदाबाद

इस अंक के विवरण से स्पष्ट है कि **शोधादर्श** ने जैन विद्या के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत की है। शोध के प्रति अपनी निष्पक्ष और समीक्षात्मक राय भी कायम की है। पाण्डुलिपि-सम्पादन के क्षेत्र में प्राथमिकता दी जानी चाहिये, विद्वान लेखकों की ओर से भी तो धरोहर सुरक्षित होगी। आप भी लेखकों को प्रेरित कर लिखवायें।

कवि छीहल के सम्बन्ध में सुखाड़िया वि. वि. उदयपुर के हिन्दी एम. ए.

में श्री प्रकाश चन्द्र जैन ने एक लघु शोध-प्रबन्ध लिखा है। श्री वेद प्रकाश गर्ग का लेख भी महत्त्वपूर्ण है।

— डॉ. प्रेम सुमन जैन
असो. प्रो., जैन विद्या एवं प्राकृत, सुखाड़िया वि. वि., उदयपुर

शोधादर्श की निष्पक्षता, तटस्थता, विचारोत्तेजकता प्रभावित करती है। लेखों के स्तर के साथ समाज के स्तर को भी बनाये रखने में सम्पादकीय टिप्पणी एवं प्रसंगोत्पात विवेचन स्पृहणीय है।

आ. ज्योति प्रसाद जी की भावनारूप कार्यरत उक्त पत्रिका साहित्य के क्षेत्र की एक दैदीप्यमान ज्योति है। इसे इसी प्रकार जलाये रखें।

— डॉ. (श्रीमती) नीलम जैन
सम्पादिका, जैन महिलादर्श, सहारनपुर

शोधादर्श में प्रकाशित 'भगवान महावीर–दार्शनिक चिन्तन को नई दिशा' लेख अपने नाम के अनुरूप ही है। आध्यात्मिक रस के पिपासुओं को सही दिशा प्रदान करने वाला है। अन्य सभी लेख भी पठनीय हैं।

— ब्र. डॉ. (कु.) मनोरमा जैन
रोहतक

प्रस्तुत अंक में पुनरावलोकन परिशिष्ट के रूप में २५ अंकों का लेखा-जोखा देकर अत्यन्त महत्कार्य सम्पादित किया गया है। इस कार्य में जो परिश्रम आपने किया है, वह सराहनीय है। शोध-दृष्टि से इसका विशेष महत्व है। साधुवाद !

— श्री वेद प्रकाश गर्ग
मुजफ्फरनगर

जैन विद्या—जैन धर्म, कला, साहित्य और संस्कृति के विविध पक्षों पर शोधपूर्ण लेख; जैन गतिविधियों के समाचार, उन पर बेबाक टिप्पणी; जैन साहित्य की नवीनतम संरचनाएं; जैन विद्या में होने वाले शोध कार्य, विद्वानों के सत्कार, अनुशंसा-प्रशंसा, पुरस्कार आदि विषयों से सर्वदा सम्पूर्ण यह पत्रिका ज्ञानार्जन तो कराती ही है, साथ ही साथ लेखन, समीक्षा और परिचर्चा का पाठ भी पढ़ाती है। मेरे लिये तो यह 'गागर में सागर' है।

— डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव
रीडर, सी.एम.पी. कालेज, इलाहाबाद

लेख के अन्त में आपकी टिप्पणी से मेरे लेख का महत्त्व बढ़ गया है। टिप्पणी के लिये मैं विशेष रूप से आभारी हूँ।

— श्री राजेन्द्र कुमार जैन
उपाध्यक्ष, भारतीय जैन मिलन, लखनऊ

शोधादर्श आज के समय के लिये बहुत ही महत्त्वपूर्ण कृति है जिसमें जैन धर्म के सिद्धान्तों को बड़े ही रोचक ढंग से व्यवहारिक रूप प्रदान किया गया है जो आज के समय की मांग है। यह व्यवहारिक जीवन में मार्गदर्शिका का काम कर रही है।

— श्री मुन्नालाल जैन
फिरोजाबाद

पत्रिका स्तरीय, पर्याप्त मौलिक सामग्री युक्त एवं उपादेय है।

इसमें दक्षिण भारत में जैन धर्म एवं हमारे वरिष्ठ साहित्य सृष्टा—ये दो स्थायी लघु स्तम्भ भी हों तो पत्रिका और अधिक व्यापक होगी।

— डॉ. रवीन्द्र कुमार जैन
मद्रास

शोधादर्श की मैं हमेशा राह देखता हूँ। **शोधादर्श** एक उत्तम त्रैमासिक है। लेख उत्तम, रोचक, बोधप्रद होते हैं। दूसरी विशिष्टता यह है कि आपकी पुस्तक-समीक्षा बहुत उपयोगी रहती है। इस अंक में (१) जैन धर्म बिकाऊ है; (२) जैन धर्म और संस्कृति; (३) भगवान महावीर : दार्शनिक चिन्तन— लेख सुन्दर रहे।

— श्री शांतिलाल के. शहा
सांगली

हमारी संस्था की मुख्य पत्रिका 'श्राविका' मासिक मराठी भाषा में प्रकाशित की जाती है जिसमें **शोधादर्श** के उत्कृष्ट लेख, टिप्पणियां और समीक्षा हमारे सम्पादक महोदय श्री लाल चन्द जैन सम्मिलित करते हैं।

— ब्र. विद्युल्लता शहा
श्राविका संस्थान, सोलापुर

मुझे आपका **शोधादर्श** पत्र लगातार मिलता रहता है। इसमें बड़े अच्छे तथा मूल्यवान प्रसंग पढ़ने को मिलते हैं।

— श्री सुकुमार चन्द्र जैन
वयोवृद्ध समाज नेता, मेरठ

जो कार्य आप कर रहे हैं मेरी हार्दिक शुभ कामनाएं स्वीकार हों। अपनी मैगजीन के माध्यम से यदि पर्यावरण पर जैन सिद्धान्तानुसार आप बल दें तो उत्तम रहेगा।

— श्री नरेन्द्र कुमार जैन
देहरादून

[अंक १५ में Environment and Religion और अंक २५ में Save Planet through Eco-Jainism इस संदर्भ में दृष्टव्य हैं।—सम्पादक]

शोधादर्श तो शोध आदर्श ही है। किसी भी मैटर को सांगोपांगहीन कहने की हिम्मत जुटाना किसी समझदार के वश की बात नहीं—

'कह दिया सौ बार उनसे
जो हमारे दिल में है।'

— पं. पद्मचन्द्र जैन शास्त्री
सम्पादक, अनेकान्त, नई दिल्ली

शोधादर्श में सभी लेख बहुत उत्तम और सारगर्भित हैं। 'पंचकल्याणक प्रतिष्ठाएं' लेख वास्तव में बहुत लाभकारी एवं पठनीय है, इसके लिये आपको बहुत-बहुत बधाई!

— श्री सुमेर चन्द्र जैन
सम्पादक, वर्णी प्रवचन, मुजफ्फरनगर

"जैन धर्म बिकाऊ है" श्री कैलाश भूषण जी का लेख पढ़कर सामाजिक बुराई की तरफ ध्यान गया। धर्म और सामाजिक रचना में बदलाव की आवश्यकता है।

— डॉ. (कु.) मीरा जैन
लश्कर, ग्वालियर

बहुत ही सुन्दर व मर्मस्पर्शी अंक निकालते हैं जो दिशाबोध देते हैं। मैं आपके हर अंक को बड़ी रुचि से पढ़ता हूँ। आपका यह अथक परिश्रम जैन धर्म के जिज्ञासुओं के लिये ज्ञान नेत्र के समान है।

—श्री ताराचन्द्र जैन अग्रवाल
पचेवर

अत्यन्त सारगर्भित सामग्री समावेशित है। इस शोधपरक पत्रिका के

माध्यम से जैन धर्म, कला और संस्कृति को प्रकाशित करने का महती प्रयास हुआ है।

— डॉ. सन्तोष कुमार वाजपेयी
प्रवक्ता, प्राचीन भारतीय इतिहास, सागर वि. वि., सागर

अनेक सन्दर्भ और सूचना से सम्पृक्त तथा सुधी सामग्री से सम्पन्न मार्च का विशेष अंक निश्चय ही संग्रहणीय बन गया है।

जैन शोध को उजागरण एवं उन्नयन करने में **शोधादर्श** का अवदान उल्लेखनीय है। इस बेजोड़ उपलब्धि के लिये कृपया मेरी बहुतश: बधाइयां स्वीकार कीजिये।

— डॉ. महेन्द्र सागर प्रचण्डिया
अलीगढ़

मुझे बड़ी प्रसन्नता है कि आप सभी मिलजुलकर **शोधादर्श** का प्रकाशन बहुत अच्छे ढंग से कर रहे हैं और निर्भीक होकर अपने विचार लिखते हैं।

— श्री सुबोध कुमार जैन
मानद मंत्री, श्री जैन सिद्धान्त भवन, आरा

आपका कार्य सत्य मार्ग पर है। सत्य-मार्ग खतरों के जंगल में से होकर जाता है, यह तो आप जानते ही हैं। आपके साहस और पहल की लोग प्रशंसा करेंगे।

— श्री सुरेश सरल
जबलपुर

आपके द्वारा प्रेषित 'रजत पुष्प' के माध्यम से **शोधादर्श** से प्रथम परिचय हुआ। अंक इतना अच्छा लगा कि पूरा पढ़े बिना रह नहीं सका। आगम के रहस्यों को सुलझाने के साथ-साथ अद्यतन समाचारों की जानकारी व समीक्षा— सभी स्तुत्य है।

— श्री गुलाब चन्द्र जैन
विदिशा

निस्सन्देह आपकी पत्रिका सच्चे अर्थों में शोध-पत्रिका है। सम्पादक द्वारा सभी सदस्यों को समय पर इसकी प्रति भेजना इसकी दूसरी विशेषता है।

— डॉ. जयकिशन प्रसाद खण्डेलवाल
निदेशक, वृन्दावन शोध संस्थान, वृन्दावन

शोधादर्श की प्रति आभार पूर्वक स्वीकार्य कर आपको स्तरीय पत्रिका के संपादन और प्रकाशन के लिये पुन: बधाई देता है।

— श्री राजमल जैन
नई दिल्ली

अंक बहुत अच्छा लगा। अपनी पत्रिका के द्वारा आप भविष्य में भी पाठकों को लाभान्वित करते रहेंगे, ऐसी आशा है।

— डॉ. (श्रीमती) सुनीता कुमारी
प्रवक्ता, संस्कृत विभाग, वी.एस.एम. कालेज, रुड़की

शोधादर्श की निर्भीकता के आगे यह अभय प्रकाश भी नत मस्तक है। इस पत्रिका का वर्तमान में कोई सानी नहीं है। बाबूजी आपके कामों को अप्रत्यक्ष रूप से अवश्य सराहते होंगे। मुनियों के शीर्ष भी धर्म में हैं तो व्यभिचारी भी हैं जो कलंक हैं।

— डॉ. अभय प्रकाश जैन
ग्वालियर

पेज ७० पर गिरनार जी से सम्बन्धित लेख में निर्मल सागर का नाम आया है। जब गिरनार जी गया था तभी वहां रंगढंग देखे। हालचाल वहां के निवासियों ने बताये। पूंजीपति साधु हैं। "जैन समाज मेरी ···· नहीं उखाड़ सकता" यह भाषा है उन आदरणीय आचार्य की। जहां नहीं देखा, वहीं संतोष है।

धर्म बिकाऊ है और समारोहों पर लेख उत्तम हैं। जैन अल्पसंख्यक पर आपकी जानकारी भी उपयोगी है लेकिन कौन क्या करे ? क्यों करे ?

— साहू शैलेन्द्र कुमार जैन, एडवोकेट
खुर्जा

शोधादर्श का प्रत्येक अंक मैं पढ़ता हूँ और विविध लेख, संपादकीय, टिप्पणियां आदि संतुलित तथा उच्च कोटि की रहती हैं, इसमें दो मत नहीं हो सकते।

मुझे कुछ अस्पष्ट चर्चाएं सुनने में आयीं जिस विषय पर आपने इसी अंक में ७२-७५ पृष्ठ पर 'अभिनव श्रमणाचार' में प्रकाश डाला है। सिंहरथ प्रवर्तन करने वाले आचार्य सन्मति सागर महाराज सिंहशावकों को क्या त्रासदी हुई होगी, इसमें हिंसा-अहिंसा का क्या भाग होगा, यह तय करने में असफल हुये, इससे जैन धर्म का और ज्यादा खुद का प्रसार-प्रचार होगा इसमें ही समाधानी

रहे। लेकिन अपनी मुनि-आचार्य की छवि खराब करने में निश्चित सफल हुये, यह निर्विवाद सत्य है।

जैन गजट के दि. ४-५-१९९५ के अंक में पृष्ठ ३ पर बहराइच से आया समाचार बड़े चाव से छापा है जो इस पर कड़ी है। आचार्य पुष्पदन्त सागर जी स्वयं महावीर बने, स्टेज पर आये और चंदनबाला को बेड़ियों से मुक्त किया। याने स्टेज पर नाटक खेलने का—नाटक में भाग लेने का—मुनिजनों को अब मुक्त परवाना ही मिल गया है। वह दिन दूर नहीं कि मुनिजनों की आवश्यक क्रियाओं में और किन-किन कार्यों का समावेश होने को रह जावेगा।

— प्रो. के. डी. मिश्रीकोटकर
अ. प्रा. प्रिन्सिपल, जी. एस. टोम्पे कालेज, चान्दुर बाजार (जि. अमरावती)

२५वां अंक सफलतापूर्वक निकाल देना स्वयं एक बड़ी उपलब्धि है। इसके लिये सम्पादक व व्यवस्थापक बधाई के पात्र हैं।

प्रस्तुत अंक भी पूर्व परम्परा का अनुसरण करते हुए रोचक तथा शोधपरक सामग्री से भरपूर है। भगवान भविष्य में भी इस सारस्वत यज्ञ को निर्विघ्न सम्पन्न कराते रहें और आप सभी पर कृपा दृष्टि बनाए रहें, यही प्रार्थना है।

— डॉ. रमेश चन्द्र शर्मा
निदेशक, भारत कला भवन, का. हि. वि. वि., वाराणसी

ऐसे ज्ञानवर्धक और रोचक अंक के प्रकाशन के लिये आप प्रशंसा के पात्र हैं।

— श्री ज्ञानेन्द्र मोहन सिन्हा
अ. प्रा. संयुक्त सचिव, उ०प्र० शासन, लखनऊ

हमें आपकी पत्रिका अच्छी लगी है। आपको २५ रु. मनीआर्डर से भेज रहे हैं। कृपया हमें वार्षिक सदस्य बनायें।

— श्री धर्मानन्द
अध्यात्म साधना केन्द्र, नई दिल्ली

आपका पत्र **शोधादर्श** बड़े उत्तम खोजपूर्ण लेखों से युक्त है, इसके लिये आपको बधाई!

— श्री रूप चन्द्र कटारिया
दिल्ली

आपकी पत्रिका की तारीफ करना तो सूरज को दिया दिखाने के समान है।

— श्री पार्श्व कुमार जैन
लखनऊ

तीस मई अपराह्न में हुआ हमें अति हर्ष ।
मिली आपकी पत्रिका अति प्रिय **शोधादर्श** ।।
अति प्रिय **शोधादर्श** पत्रिका है अति प्यारी ।
रजत पुष्प पच्चीस छटा है उसकी न्यारी ।।
पूर्वांकों की अनुक्रमणिका है निश्चय ही उपयोगी ।
सन्दर्भ खोजने में इससे हम सबको सुविधा होगी ।।
यह भी पता चलेगा इससे किसने कितने लेख लिखे ।
किस वस्तु विषय पर कहां-कहां पर हैं सन्दर्भ विशेष छपे ।।
आय-व्ययक पिछले वर्षों का देख बहुत संतोष हुआ ।
उपलब्धि केन्द्र की प्रगतिशील पाकर मन को परितोष बढ़ा ।।
इस सम्यक् उपलब्धि हेतु हम सबके ही आभारी हैं ।
शशि कान्त जी इस श्रेयस के पर विशेष अधिकारी हैं ।।
उनके निर्देशन संरक्षण का बना यही आदर्श रहे ।
क्रमशः हो उन्नतिशील सदा छपता यह **शोधोदर्श** रहे ।।

— डॉ. महावीर प्रसाद जैन
लखनऊ

पत्र के नाम के अनुरूप पाठकों को उसमें सामग्री प्राप्त होती है । सम्पादकीय भी समसामयिक होती है, समीक्षाएं भी सटीक हैं । श्रमणाचार के सम्बन्ध में परीक्षा प्रधानी दृष्टिकोण अपेक्षित हैं ।

— डॉ. शीतल चन्द जैन
प्राचार्य, श्री दिगम्बर जैन आचार्य संस्कृत महावि., जयपुर

ऐसी शोधपरक सामग्री के चयन एवं संपादन के लिए आपको बधाई । 'जैनधर्म और संस्कृति' में भारतीय धारा से सांस्कृतिक रूप से जुड़ी जैन संस्कृति की विशद चर्चा है । डॉ. हीरालाल जैन के संदर्भों से लेख अलंकृत है । समीक्षात्मक पद्धति से संपादित यह लेख सर्वश्रेष्ठ है । अन्य लेख 'भगवान महावीर : दार्शनिक चिंतन को नई दिशा'—डॉ. शशि कान्त का, भारतीय दर्शन शास्त्र में जैन दर्शन का महत्व प्रतिपादित करता है । आचार्य हेमचन्द्र पर महत्वपूर्ण सूचना व श्री सुरेश जैन के शोध परक Save Planet through Eco-Jainism में नये शोधार्थियों के लिए पठनीय सामग्री है । समाचार विमर्श से जैन जगत की सूचनाएं दूर के लोगों को भी ज्ञात हो जाती है ।

पत्रिका की सामग्री संतुलित एवं श्रेष्ठ हैं ।

— डॉ. सुरेन्द्र कुमार आर्य
उज्जैन

आपकी यह पत्रिका वास्तव में संदर्भ पुस्तिका है।

— श्री सुन्दर सिंह जैन
संपादक, वीर, देहली

पत्रिका बहुत उपयोगी है। इसमें छपे लेख एवं दी गयी सामग्रियाँ ज्ञानवर्द्धक एवं चिन्तन प्रेरक हैं। आपने रजत पुष्प में लेखक एवं लेखों की अनुक्रमणिका देकर शोधार्थियों के लिए इसे विशेष उपयोगी एवं लाभप्रद बना दिया है। मैं आपके उत्साह एवं कार्यों के प्रति हार्दिक प्रशंसा व्यक्त करते हुए अपनी मंगल कामनाएं प्रेषित करता हूँ।

— प्रो. (डॉ.) डी. सी. जैन
आरा

अन्य पत्रिकाओं से न्यारी **शोधादर्श** पत्रिका की एक विशेष सामग्री वह है जो धार्मिक कार्यकलापों में आडम्बर और दिखावे पर तीखा प्रहार करती है।

— प्रो. डॉ. आर. सी. गुप्त
बी.आई.टी., मेसरा, राँची

It offers an opportunity of knowing Jainism for inquisitive non-Jain scholars.

— Dr. Himadri Banerjee
Calcutta

मैं जैन **शोधादर्श** दिलचस्पी से पढ़ता हूँ। कुछ नये शोध-खोज की जानकारी मिल जाती है, साथ ही वर्तमान गतिविधियों का ब्यौरा भी।

— श्री श्रेणिक अन्नदाते
संपादक, तीर्थंकर (मराठी), डोंबिवली (पूर्व) (महाराष्ट्र)

आदि से अन्त तक इसका स्वाध्याय करने के पश्चात मैं यह कहने के के लिए विवश हूं कि यह अंक सभी पत्र-पत्रिकाओं से बेजोड़ है। पुनरावलोकन स्तम्भ और लेखक–लेख अनुक्रमणिका विशेष रूप से ज्ञानवर्धक है। शोध छात्रों के लिए यह एक सजीव कोश है। लेख 'जैनधर्म और संस्कृति', 'जैन धर्म बिकाऊ है' एवं सम्पादकीय मर्मस्पर्शी हैं।

— श्रीमती जैनमती जैन
जैन बाला विश्राम उ. वि., आरा

आपका प्रयास सराहनीय एवं अनुकरणीय है। आपके माध्यम से साहित्यिक गतिविधियों का दिग्दर्शन संभव हो जाता है।

—ब्र. जय निशांत
टीकमगढ़

पत्रिका की सामग्री क्रांतिकारी, रोचक एवं विचारोत्तेजक है। सम्पादकीय, जैन धर्म बिकाऊ है, एवं समाचार विमर्श का अभिनव श्रमणाचार, को प्रकाशित करने के साहस के लिये बधाई।

'जैन धर्म के समक्ष चुनौती' वाला लेख चुनौती भरा है। साधन सम्पन्न जैन समाज के कर्णधार, नेता और अधिवक्तागण यदि चाहें तो संविधान की धारा ३२ के अंतर्गत सार्वजनिक हित की याचिका (रिट) माननीय सर्वोच्च न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत कर जनगणना फार्म में 'जैन' शब्द लिखवा सकते हैं।

— डॉ. राजेन्द्र कुमार बंसल
अमलाई, (मध्य प्रदेश)

पत्रिका ज्ञानवर्धक एवं उपयोगी है।

— श्री डाल चन्द जैन
पूर्व सांसद, सागर

इस बार आपने लेखों और लेखकों का जो वर्गीकरण प्रस्तुत किया है वह अपने आप में अभूतपूर्व है।

— डा० शिव प्रसाद
वाराणसी

इसके माध्यम से आप निश्चित ही जैन संस्कृति के प्रचार-प्रसार में महत्त्वपूर्ण योगदान दे रहे हैं।

— डॉ. भाग चन्द्र जैन 'भास्कर'
अध्यक्ष, पालि-प्राकृत विभाग, नागपुर वि.वि., नागपुर

यह एक अनूठी पत्रिका है।

— डॉ. (कु.) नीना जैन
शिवपुरी (म.प्र.)

एक ओर जहाँ शोध परक उत्तम आलेख हैं वहीं वर्तमान सामाजिक वृत्ति में आई निवृत्ति की भी अनूठी शोध है। अतिरिक्त साहस लेकर आप इन्हें उजागर कर रहे हैं।

— श्री राजेन्द्र नगावत
संपादक, रत्नराज, नोएडा

शोधादर्श-२५ रजत पुष्प में शोधपूर्ण पर्याप्त सामग्री है। साथ ही 'पंचकल्याणक प्रतिष्ठाएं' सम्पादकीय प्रेरक-वस्तु तथ्य उजागर करता है।

— डॉ. भागचन्द्र जैन 'भागेन्दु'
सचिव, मध्य प्रदेश संस्कृत अकादमी, भोपाल

शोधादर्श एक स्तरीय पत्रिका हो गई है। माननीय अजित प्रसाद जी, आप व रमा कान्त जी का सार्थक प्रयास निश्चय ही **शोधादर्श** को ऊँचाइयां प्रदान करेगा, ऐसा दिखता है।

— श्री मोतीलाल जैन "विजय"
व्याख्याता, कटनी (जिला जबलपुर)

यह अंक अति ही उत्तम, सर्वोत्कृष्ट लगा।

जैन धर्म में क्या श्रावकों में क्या साधुओं में शिथिलाचार द्रुत गति से अपने पांव पसार रहा है। अनेक आचार्य भ्रष्ट चरित्र हो चुके हैं। श्रावक भी अपने श्रावकाचार से पतित हो रहे है गर्भपात और भ्रूण हत्या जिसका जीता जागता प्रमाण है। पानी को छान-छान कर पीने वाला जैन समाज आज अपनी ही सन्तान का खून अनछाना पी रहा है। इस क्रूर कुकृत्य को रोकना चाहिये।

— डॉ. मानिक चन्द मालू
संपादक, हे प्रभो येह तेरापन्थ, ह्यावड़ा

शोधादर्श निरन्तर अपने उद्देश्यों में प्रगति कर रहा है। यह आपकी पैनी दृष्टि का परिणाम है। पुनरावलोकन देने से यह अंक विशेष उपयोगी बन गया है।

अजित प्रसाद जी का 'समाचार विमर्श' अत्यन्त उपयोगी है। इसे ही यथार्थ पत्रकारिता कहा जा सकता है।

— डॉ. ऋषभ चन्द्र जैन
व्याख्याता, प्राकृत, जैन शास्त्र और अहिंसा शोध संस्थान, वैशाली

आदरणीय बाबूजी अजित प्रसाद जी का संपादकीय हमेशा पठनीय रहता है। इस अंक का संपादकीय 'पंचकल्याणक प्रतिष्ठा' की समालोचना अत्यन्त उपयोगी लगा। मेरे मन में भी इन पंचकल्याणक प्रतिष्ठाओं के संबंध में यही विचार रहते हैं परन्तु व्यक्त नहीं कर पाता। वास्तव में पंचकल्याणक जो आत्म-दर्शन के साधन होते थे आज मनोरंजन के साधन मात्र रह गये हैं। श्रावक एवं मुनि रिकार्ड बनाने के चक्कर में रहते हैं जिससे उनके मान की

पुष्टि होती रहती है। जिसमें अधिक तामझाम, संगीत आदि हो जाता है वही सफल माना जाता है। विधि विधान को गौण कर दिया गया है। कोई भी प्रतिष्ठा-आचार्य विधि पूरी कराता ही नहीं है। सब अपनी स्वार्थ सिद्धि, अर्थसिद्धि में लगे हैं। अगर इसी प्रकार बाबूजी की लेखनी चलती रही तो अवश्य ही कुछ न कुछ सुधार आयेगा। अन्ध-भक्ति बन्द होगी।

— डॉ. हरिश्चन्द्र जैन शास्त्री
प्राध्यापक, श्री गोपाल दि. जैन संस्कृत महाविद्यालय, मुरैना

श्री अजित प्रसाद जी की सधी, व्यंग्यात्मक शैली मन को मोह लेती है। वे बहुत ही सटीक यथार्थ लिखते हैं। लेकिन आश्चर्य है कि हमारा जैन समाज आंखें बंद करके धनी मानी दकियानूस सेठों की हां में हां मिलाने में अपनी विजय और प्रतिष्ठा समझता है। २५वें अंक की सामग्री से समाज को सबक लेना चाहिए—लेंगे ?

— श्री जमना लाल जैन
सारनाथ (वाराणसी)

२५वें अङ्क को आद्योपान्त ध्यान से देखकर और यत्र-तत्र-सर्वत्र नवीनता का अनुभव करके आनन्द का अनुभव किया। जिसमें सदा नवीनता के दर्शन होते रहें, उसे सुन्दर कहते हैं—'क्षणे क्षणे यत् नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः' (महाकवि माघ)। माघ की यह उक्ति **शोधादर्श** में घटित होती है; क्योंकि ध्यान से पढ़ने पर इसके प्रत्येक अङ्क में नवीनता के दर्शन होते हैं।

— पं. अमृत लाल जैन शास्त्री
ब्राह्मी विद्यापीठ, लाडनूं

★